Municipal Library,
NAINI TAL.

Class No. 891·38
Book No. R14T
670

टूटा तारा

लेखक

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, एम० ए०

श्री राजराजेश्वरी साहित्य मंदिर के लिए

सोल एजेंट

आरती-मंदिर, पटना

प्रकाशक—

श्री राजराजेश्वरी साहित्य मंदिर,

सूर्यपुरा (शाहाबाद)

MUNICIPAL LIBRARY
NAINI TAL.
Class ... 891.38
Sub-head R14T
Serial No. ... Almirah No.
Received on

प्रथम संस्करण

४)॥
मूल्य २) रुपए

891.38
R14T
670

मुद्रक—

ओरियंट प्रेस,

बाँकीपुर, (पटना)

मैं भी चक्कर में हूँ कि यह मेरी क़लम ने मचलकर किस कूचे में क़दम रख दिया! भला, बैठे-बिठाए वह यह कर क्या बैठी? कब किसी की क़लम की रविश ऐसी सूनी गली में झाँकने गई होगी?

और, न जाने की बात भी तो है। है भी सैर की कोई जगह यह!

आख़िर जीवनी लिखी जाती है किसी नामी-गरामी की; किसी फिसड्डी की नहीं। क्या पिद्दी, क्या पिद्दी का शोरबा! जीते-जी जिसकी तूती नहीं बोली, मरने पर उसकी मिट्टी क्या बोलेगी? फिर भी लेखनी की इस अदा को तो देखिए कि वह चली है जाने कहाँ के दो अनजान टुटपुँजियों को दुनिया से दाद दिलाने! इस अंधेर की भी कोई हद है!

जी, अंधेर तो यह है ही, मगर क़सूर माफ़, ज़िंदगी में जिन्हें हम पहचान न पाए, मरने पर भी तो कुछ उनके साथ रहम करें! करेंगे आप? कोई नहीं करता। चाहिए भी यही। किसे पड़ी है ऐसी गई-बीती, गली-पची रूहों ~~की ओर~~ झाँकने की और उनकी मर-मिटी क़ब्रों की सदा पर कान देने की!

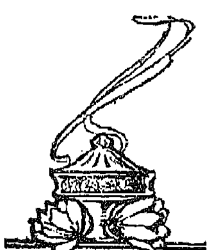
और, यह कोई वैसी सिलसिलेवार जीवनी भी तो नहीं। बस, जो कुछ हमने देखा, सुना या समझा, उन्हीं आड़ी-तिरछी रेखाओं पर ज़बान ने रंग भरने की कोशिश की है।

भाई, यह सच है कि उनकी ज़िंदगी की कहानी है बहुत छोटी, बिल्कुल मामूली,—कोई भी ऐसी सनसनीख़ेज़ बात नहीं, जिसे दुनिया कान देकर सुने; फिर भी वह मर्मस्पर्शी न होती, कुछ अनूठी न होती, तो मेरी लेखनी की इस नादानी का कोई हीला भी न होता। उसकी सफ़ाई तो बस, इतनी ही है कि गाँव के कीच-कादो में भी कुछ ऐसे जवाहर निकल ही आते हैं, जिन्हें, काश, दुनियाँ जान पाती तो गले का तावीज बनाकर रखती!

सूर्यपुरा (शाहाबाद)
१५-१२-४१ } राधिकारमण प्रसाद सिंह

Page – 5, 7, 8, 9

समर्पण



Some village Hampden, that with dauntless breast
The little tyrant of his fields withstood,
Some mute inglorious Milton here may rest,
Some Cromwell, guiltless of his country's blood.

Full many a gem of purest ray serene
The dark unfathom'd caves of ocean bear:
Full many a flower is born to blush unseen,
And waste its sweetness on the desert air.

—Gray.

प्रकाशक का वक्तव्य

श्रीमान् राजा साहब की यह पाँचवीं पुस्तक श्री राज-राजेश्वरी साहित्य मंदिर की ओर से प्रकाशित करते हुए हमें अत्यंत हर्ष हो रहा है। राजा साहब की पिछली पुस्तकों का हिंदी-जनता ने जिस उत्साह और आदर के साथ स्वागत किया है, उसे देखते हुए कागज़ की इस भयंकर महँगी में भी हमने इस पुस्तक को अधिक से अधिक सुंदर और सुरुचिपूर्ण ढंग से प्रकाशित करने का उद्योग किया है। इस पुस्तक की छपाई-सफ़ाई और काग़ज आदि राजा साहब की पिछली पुस्तकों के अनुरूप ही है और मूल्य भी उन्हीं के समान रक्खा गया है—यद्यपि लागत हमारी बहुत अधिक लगी है; पर यदि हमारे प्रेमी पाठकों की संख्या बढ़ रही है तो हमें व्यावसायिक रूप से कुछ हानि भी उठानी पड़े तो उसकी चिंता हम न करेंगे।

श्रीमान् राजा साहब की इस पुस्तक के संबंध में भी दो शब्द कहने का लोभ हम नहीं संवरण कर सकते। यह पुस्तक न तो ठीक-ठीक जीवनी है, न ही कल्पनामूलक कोई उपन्यास। आप कहेंगे, यह अजीब गोरखधंधा है—न यह है, न वह है, तब आख़िर यह है क्या? हम अत्यंत नम्रतापूर्वक निवेदन करना चाहेंगे कि यह एक जीवन-दर्शन

है। संसार की दृष्टि में जिनका कोई मोल नहीं रहा, किंतु एक महामानव का हृदय जो अपने अंदर छिपाए रहे, ऐसे दो वन्य-कुसुमों की करुण-मधुर कहानी है यह। हाँ, ऐसे वन्य कुसुमों की, जो वन में उगे, वन में खिले-फूले और अपने परिमल-पराग को अपने में ही छिपाए दुनिया से विदा भी हो गए!

कहते हैं, कल्पनात्मक कथा-कहानियों की अपेक्षा सत्य अधिक विस्मयकर होता है। 'टूटा तारा' ने इस कथन को प्रमाणित कर दिया है। इसकी कथा-वस्तु जीवन में डूब-कर संग्रह की गई है, अतः यह उपन्यास की अपेक्षा अधिक मधुर और करुण हो गया है। हास्य और रुदन की, आनंद और करुणा की ऐसी गंगा-जमनी इसमें आपको मिलेगी, जो अन्यत्र दुर्लभ है। साथ-ही राजा साहब ने मानव-चरित्रों का जो मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है, वह इस पुस्तक में चार चाँद लगा देता है। हम अत्यंत प्रसन्नता और आदर से राजा साहब की यह अद्वितीय पुस्तक हिंदी-संसार को भेंट कर रहे हैं।

राजा साहब की अन्य कई पुस्तकें भी तैयार हैं। यदि पाठकों ने इसे समुचित रूप से अपनाया, जैसी कि हमें आशा है, तो हम शीघ्र ही उनकी अन्य पुस्तकें लेकर उपस्थित होंगे।

—प्रकाशक

मौलवी साहब

बिहार की वीथियों में गुल-बूटों की कमी नहीं। एक-से-एक गुल खिले, जिनके रूप और रंग ने उसे गुलशन बना रखा। दुनिया ने उन्हें आँखें उठाकर देखा—देखकर दाँतों-तले उँगली रखी। देश के ज़र्रे-ज़र्रे पर उनकी धाक रही। लाखों की ज़बान पर उनकी चर्चा रही। आज भी है और कल भी रहेगी। उनके नाम की निशानियाँ बिहार की छाती पर अंकित हैं,—ऐसी कि समय को भी मिटाने में समय लगेगा।

मैं इन गुल-बूटों की छान-बीन करने नहीं बैठा। इस कलम के जोश पर उनकी रूह को खींचकर दुनिया की तरावट के लिए इत्र तैयार करूँ और उसे सरे-बाज़ार बाँटता फिरूँ, यह मेरे बस की नहीं। उनकी ख़ुशबू से तो बिहार

का चप्पा-चप्पा आप सुरभित है। और उनको हमारी क़द्र-दानियों की ज़रूरत भी नहीं। जो ख़ुद रौशन है, उसकी रौनक़ी पर अपनी रौशनी डालने के लिए कुछ दिमाग़ी रौशनी चाहिए। उसे मैं पाऊँ कहाँ?

मगर इस मिट्टी पर कुछ ऐसे भी फूल पनपे हैं, जिनके रंग में न वैसी रंगीनी थी, न बू में कोई दिलकशी। रंग खुलने के लिए कुछ तरहदारी चाहिए, बू को दिल तक निखरने के लिए कुछ चुभती माधुरी। वे बदनसीब पत्तों की आड़ में अपना हल्का-सा सौरभ लिए लुट गए। उन पर न नज़रें गईं, न वे किसी की नज़र हुए। उनके साथ न रंग का निखार था, न भौंरों की गुंजार। मलय की लपटें उनकी पंखड़ियों की तह में लिपटी मिठास को दुनिया की जानकारी तक उड़ा न ले गईं। वह मधु का निर्भर दिल के भीतर ही सिमटकर रह गया। बस, एक छोटे-से दायरे में वे आए, उसी दायरे की दरीच्चियों पर अपनी आत्मीयता की डाली रखी; पर उस तोहफ़े को परखने के लिए किसी को न फ़िक्र थी, न फ़ुरसत। हाँ, दस-पाँच ने उड़ती नज़र फेंकी, दो-चार ने मुड़कर पहचाना भी; एकाध ने झूमकर चूमा। किसी ने शायद आँसू का एक क़तरा भी बहा दिया—बस। दो दिन तक चंद परिचितों में चर्चा रही और पानी का बुल-बुला पानी में उबलकर गुम हो गया। उनमें कोई

सुरख़ाब का पर थोड़े ही था, जो झरने पर किसी तुर्रे के लिए तलाश होती !

मैं आज उसी एक गुल की मुरझाई पंखड़ियों पर गुल कतरने तो बैठा हूँ, पर रह-रहकर कलम काँप उठती है कि कहीं मेरी अपनी भद्द होकर न रहे !

और काँपने की बात भी तो है। आख़िर मौलवी साहब किस खेत की मूली थे ! सूरत भी तो न थी कि कोई तबीयत-दार आँखें सेंकता; दौलत भी तो न थी कि शान-शौक़त की टीमटाम पर जी-हुज़ूरी का बाज़ार गर्म होता; लियाक़त भी तो न थी कि दुनिया की आँखों में चमक लगती; और न दिमाग़ी क़ूवत ही थी कि किसी की छाती पर धाक जमती। तो फिर था क्या ? और जब कोई बाबत ही न थी, तो फिर बेचारे को आराम से क़ब्र में सोने क्यों न दिया जाय ! आज उनकी रूह को घसीटकर दुनिया के सामने तमाशा बनाने से फ़ायदा ?

हाँ, लोग कहते हैं, आदमी दिलदार थे। अजी, हुआ करें ! दुनिया में दिमाग़ की तूती बोलती है, दिल की नहीं। बड़प्पन न भी हो, नाम बड़ा होना चाहिए। दूकान ऊँची और पकवान फीका भी है, तो वह मीठा ही लगेगा।

तो क्या जो छोटा है वह अपनी लघुता में पूर्ण नहीं ? हम तो समझते रहे कि कोई ज़रूरी नहीं कि जो आदमी दिमाग़ का बड़ा न हो, वह बड़ा ही न हो। नामी होना

और है, आदमी होना और। यह सच है कि आज दुनिया को हाथ में रखने के लिए उसकी गर्दन में हाथ रखना ज़रूरी है। जब तक हम सौ-पचास को पाँवतले नहीं रखते, हम ऊँचे नहीं हो पाते। हम दुनिया की निगाह में तभी खिलते हैं, जब हमारे पड़ोसियों को कोई फूटी आँखों भी नहीं देखता। शायद दुनिया को अंधी बनाकर रखने में ही आँखवालों में हमारी शुमार है। कोई आदमी सैकड़ों के दिल कुचल, हजारों के सर पर क़दम रखकर ऊँचा उठता है; कोई ज़मीन पर पाँव रखते भी सहमता है कि कहीं पैर-तले नन्हें कीड़े न कुचल जायँ। एक दिल का दबंग है—हौसलों की आँधी में उड़ता हुआ। दूसरा बेचारा फूँक-फूँककर चलता है, फिर भी क़दम-क़दम पर ठोकर पाता है। बड़ा कौन है, कौन नहीं—यह मसला तो हमारे नुक़्तेनज़र पर निर्भर है, उस आदमी पर नहीं।

राजा होना और है, बड़ा होना और। राजा भी छोटा हो सकता है, छोटा भी बड़ा हो सकता है। आदमी तो दोनो ही हैं—रंग काला हो या गोरा, पद छोटा हो या बड़ा। जल तो सभी जल है—वह गंगा का हो या तलैया का। पहाड़ भी अपनी जगह पर है, राई भी अपनी जगह पर। सूरज में भी रोशनी है, दीपक को भी लौ है। मगर जो

हमारी अँधेरी कोठरी को रौशन करे, वही मिट्टी का दीया मेरे चाँद-सूरज है।

लौकिक पटुता ही क्या जीवन की सफलता है? दस-बीस को धक्के देकर आगे बढ़ने ही से हम सचमुच प्रगति के धाप पर पैर रखते हैं? क्या इस ज़िंदगी की कलँगी किसी ऊँचे पद की तख्तनशीनी है? यदि अट्टालिका के कँगूरों के साये में वह चमका नहीं, तो कहीं का न रहा? काश, कोई अमारत के चेहरे पर पड़े हुए रंगीन परदों को उलट पाता!

यह तो निर्विवाद है कि जो जगत् का आँगन अपने सौरभ से भर गया, वह धन्य है। मगर जो अपने छोटे-से आँगन में खुशबू बनकर फूटा, वह भी हँसता एक फूल ही है, कूड़ा नहीं। शायद जगत् की हवा और रोशनी को वह भी पा लेता, तो हजारों के सर पर मौर बनकर उठता। पर दीवारों से बाहर फैलने की उसने कोशिश नहीं की, न दुनिया ने उसके परिमल को लेकर लखलखा बनाया!

मैं जानता हूँ, दुनिया दिमागवालों को जानती है, दिलवालों को नहीं। दुनियादारी की बिसात पर हमारे दिमाग़ के मोहरे लाल होते हैं, दिलदारी के कूचे में तो नाम है, न इनाम। क्या बात है, आज ज़बान की

चातुरी तो मिलती है, हृदय की माधुरी नहीं मिलती। रूप तो एक-से-एक अनूप है, पर दिल की पपड़ियों की तह में न वह रेणु-कुंकुम है, न वह सौरभ!

मेरे जानते कला का जन्म होता है सरस हृदय में ही; मस्तिष्क में तो उसके अंगों का प्रस्फुरण होता है—वह रूप धारण करता है दिमाग में। कला का जन्म देनेवाला दिल ही होता है—इसलिए कि कला का संबंध सहृदयता से पहले है और निरालेपन से बाद में।

आज विचार का बोलबाला है। दिल का खजाना सूना है। आँखों में पानी न हो तो कोई मुज़ायका नहीं—बस, चेहरे का पानी साफ हो। हाँ, दुनिया में दिमाग़ी दरियादिली के इश्तहार बाँटनेवालों की कमी नहीं, कमी है दाहिने हाथ की करतूत को बाएँ हाथ की जानकारी पर परदा देने की। शायद दिमाग़ को उभरने का तक़ाजा है, दिल सकुचकर आड़ तलाशता है।

आज हम बौद्धिक विकास के करिश्मे देखकर दंग हैं। और दंग क्यों न हों! आसमान पर विमान दौड़ाना कभी आदमी के इमकान का काम न था! हमारी विकसित बुद्धि ने आकाश और पाताल तक राजमार्ग बनाकर देवताओं के दावे के महत्त्व को लूट लिया। मगर हाँ, समझदार दुनिया हमारी इन्सानियत के दावे को तस्लीम

तो जब करती कि हम अपने मनोरथ के रथ को मानवता की छाती की पंजरियों को रौंदते हुए दौड़ाने से बाज़ आते।

आज कोई विमान पर चढ़ आसमान पर उड़ा तो कुछ पुष्प की वर्षा कर जमीन पर रहमत नहीं बरसाई—बस, बम-गोलों की भरमार कर पृथ्वी की आँत उलट दी। और कहीं पाताल में डुबकी ली, तो बारूदी सुरंगें बिछाकर पानी में भी जान का ख़तरा ही बोता फिरा। मैं जानता हूँ, इस प्रगति के युग की कुंजी है बुद्धि। मगर मेरी क्षुद्र बुद्धि में आदमी आसमान पर उड़ नहीं पाता, तो ज़मीन पर रहनेवालों के सर पर एकाएक आसमान फट पड़ने का अंदेशा नहीं रहता!

आज विश्व का बौद्धिक धरातल जिस आसमान तक उठा चाहता है, उसके चक्कर में गर्दिश की ज़्यादती ही नज़र आती है, कमी नहीं। जिस ज्ञान की तह में प्रेम की प्रेरणा नहीं, वह ज्ञान तो मंगल का मूल नहीं, अनर्थ का दूत है। काश, बुद्धि के विकास के कोष में धर्म का परिमल होता तो आज बल की गोद में शील होता—राजनीति के सर पर नीति की कलँगी होती। और फिर विश्व की प्रगति कल्याण की वाहिनी रहती—हिंसा की दीवानी नहीं। शायद हमारी पशुता की प्रवृत्ति ही कुछ ऐसी शोख़ है कि बुद्धि भी उसी की चिलम भरकर ऊँची

होती है—सभ्यता तो उसी की खुराक जुगाने में अपनी बड़ाई मानती है।

और आदमी को बुद्धि मिली थी बुद्धि के परे की सत्ता को बुद्धि गड़ाकर जानने के लिए—अपनी प्रवृत्तियों की अच्छाई और बुराई की तमीज़ के लिए—न कि बुराई पर अच्छाई की कलई चढ़ाकर आदमी की बुद्धि को चक्कर में डालने के लिए। कहाँ वह हमारी मनमानियों पर शान की सुलतानी करती, कहाँ आज भटककर वासनाओं के वाम की कमंद हो रही है। वह प्रगति की ओर न जाकर परिणति को अपनाती तो आज मानवता के विकास की किल्ली रहती। मगर अफ़सोस, क्षुद्र स्वार्थों का सारथ्य कर वह कहीं की नहीं रह गई। नैतिक भावनाएँ तो आज दुर्बलों के दिल की शग़ल भर रह गई हैं।

जब युग के मनीषियों ने विलासिता के उत्तुंग उच्छ्वास पर कला की मुहर देकर अच्छाई और बुराई की तमीज़ की दूरबीन ही बदल दी तो फिर बुद्धि की शानदार सिपह-सालारी में लालसा के रिसालों को नैतिकता की सल्तनत को लूटकर तबाह कर देने में कहाँ तक देर होगी? आज दिमाग़ की ख़ूबियों की ज़्यादती विलासिता की पीठ पर हाथ न रखती, हिंसा की गर्मबाज़ारी का आतंक न उठाती तो मैं भी दुनिया की देखा-देखी उसके सरोद का तबलची रहता।

मैं तो पाता हूँ, भोग के सर पर प्रगति का तिलक देकर दुनिया ने भारत की साधना के तमाम दावे रद्द कर दिए। लोभ और क्षोभ की प्रवृत्ति दुनिया की नस-नस में कूट-कूट-कर भर तो गई है, मगर उसकी नुमाइशी वज़ेदारी कुछ ऐसी है कि भेड़ की खाल में भेड़िए का पता पाना आसान नहीं। हाँ, आसान तो नहीं; पर दुश्वार भी नहीं। आख़िर प्रचार की कला दिल की कालिमा पर कहाँ तक कलई देगी?

हमें तो लगता है कि हमारी आदिम बर्बरता ही आज की इस बुद्धि की गरिमा से कहीं निरापद थी। कम-से-कम आज की यह कृत्रिमता—यह मरीचिका—तो न थी। कोई भी भाव परदे में न था। था सामने—भीतर और बाहर बराबर। प्यार था तो प्यार। तकरार थी तो तकरार। किसी को कभी धोखा न था। ज़बान पर अभेद, दिल में विभेद और बर्त्ताव में चिकनापन, यही न मनुष्यों के सदियों के चिंतन और मनन का संचय है आज? यही न आज सभ्य-जीवन का बौद्धिक धरातल है? पशुत्व के पटल पर इस दिमाग़ी चकमे—इस मुलम्मे—से फायदा? इस मुलम्मे ने ही तो आज विकास का नाम पाया है न? भला यह भी कोई विकास है!

इस विकास ने तो पशुत्व की वृत्ति में चार चाँद लगा

MUNICIPAL LIBRARY
NAINI TAL.
670

दिए। आज नए-नए 'वाद' आबाद होते हैं। बड़े-बड़े दावे, बड़े-बड़े वादे और फिर बड़े-बड़े चकमे। 'वाद' क्या आया, विवाद आया। धरती पर स्वर्ग तो उतरा नहीं, पाँव-तले की धरती भी सरक चली। इधर आदमी की तरक्की है, उधर आदमीयत की तबाही। आज सभ्यता हँस रही है; संस्कृति रो रही है। और यह जीवन आँसू और मुसकान के बीच उलटा टँगा है।

हम पूछते हैं, आज इतनी तरक्की पर आदमी ने पाया क्या—सुख? तो क्या हम सुखी हैं? आप सुखी हैं? ज्ञान की गरिमा क्या लाई? विज्ञान का करिश्मा क्या लाया? पेट तक तो भरा नहीं—दिल कब भरेगा? दुनिया अन्न से भरी है तो क्या, लाखों के पेट खाली हैं। नदी के तीर पर प्यासा मरना—क्या तमाशा है! अभाव और विभव दोनों शैतान एक ही थैले के चट्टे-बट्टे दाएँ-बाएँ दाँत गड़ाए समाज की छाती पर सवार हैं। हैं दोनों अभिन्न सहचर—एक ही वर्क के दो पन्ने। हाँ, एक का पंजा फौलादी है, दूसरे का मखमली। मगर समाज की गर्दन पर दोनों ही बराबर मारकेश हैं। इन दोनों के दाँत तोड़ आज भी दुनिया निर्द्वंद्व नहीं हो पाती। ज्यों-ज्यों लोभ और क्षोभ का बाजार गर्म होता जा रहा है, त्यों-त्यों हमारे तमाम तर्क और बुद्धि हमारे स्वार्थ की बेहया

प्रवृत्ति पर नीति की पालिश चढ़ाने में आठों पहर खट रही है।

आज जीव मात्र में आत्मबुद्धि तो ताक़ पर रही, हमारी ज़बानी विश्वबिरादरी का आदर्श भी ख़याली पुलाव ही है। जो पश्चिम इस आदर्श का ज़ोरदार हिमायती है, वह अपनी बिरादरी तो हमसे अलग समझता ही है, पर अपनी उस चहारदीवारी के दायरे में भी एक दूसरे की गरदन रेतने के लिए वह पैंतराबाजी रखता है कि नैतिक लनतरानियों की धाँधली की तह में उसकी नीयत साफ़ खुल ही जाती है।

जो हो, मैं तो हमेशा ग़रीब हृदय का हामी रहा हूँ। और एक सहृदय की चर्चा छेड़कर दिमाग़ी दुनिया से इस अनधिकार प्रवेश के लिए माफ़ी चाहता हूँ। आख़िर शीरमाल और मुतंजन के रस से तो आप प्रतिदिन परिचित होते ही हैं, पर हाँ, कभी-कभी रुचि में ताज़गी लाने के लिए एकाध सूखी बाजरे की रोटी भी बेकार नहीं।

× × × ×

यों तो दुनिया में प्रकृति के गर्भ से नई-नई सूरतें बराबर नमूदार हो रही हैं और हरेक सूरत अपनी एक आन अलग ही लेकर आती है—और इस लिहाज़ से मौलवी साहब की सूरत भी एक सूरत ही थी; फिर भी भगवान की उस देन पर जिस कला की नक्क़ाशी थी, उसे इस छान-बीन के युग में

शायद कोई भी प्रगतिशीला नारी अपने पति के चेहरे पर देखना मुश्किल से क़बूल करेगी। काश, उस पर खुल्लम-खुल्ला फटकार न पड़ी, तो यह तो तय है कि आज इन मनमानियों के दिन वह किसी कमसिन के होठों का प्यार भी नहीं पाएगी। मगर हाँ, जिस सुदूर अतीत में वह सूरत पनपकर जवानी पर आई थी, उस वक्त हमें यक़ीन है, औरतें अपने पति का जलवा दिल की आँखों से देखती रहीं—आज की दिमाग़ी दूरबीन से नहीं। शायद उस ज़माने में सीरत के बाद ही सूरत की जगह थी। काला होना कुछ कराल होना नहीं था। काली सूरत कोई बदसूरती में दाख़िल न थी। शक्ल की वह पूछ ही न थी जो आज है। पूछ थी तमीज़ और तर्ज़ की। टेढ़ी टोपी टेढ़ी टोपी ही थी—कोई अदा की बारीकी न थी। चेहरे के पानी से आँखों के पानी का कहीं ज़्यादा मोल था।

मौलवी मुरादबख्श काले थे—कुचकुच। वे कोलतार से पुते तो न थे, मगर जो रंग था, वह गाढ़ा ही था। और वह रंग हर्गिज़ खुशरंग नहीं था। चेहरे की बनावट भी कुछ अजब टेढ़ी-मेढ़ी थी। उस पर चमक तो थी ही नहीं, नमक भी नहीं था। बकरों की-सी दाढ़ी और गर्दन तक ज़ुल्फ़ों की तैयारी। छटाक-भर के आदमी थे—दुबले-पतले—कुछ अजब भक्कू या दब्बू कहें, तो कोई

शिकायत न होगी। छोटी-छोटी चुंधी आँखें। उनमें चमक न थी, शर्म थी।

उनकी वज़ादारी भी निराली ही थी। बंददार अँगरखा, कलीदार पायजामा, सर पर चौगोशिया टोपी और गले में हैकल की तरह काफ़ी लंबी रूमाल।

रहनेवाले तो थे वे आज़मगढ़ के, मगर फूले-फले हमारे यहाँ। वे खुद अपने सफीने में लिखते हैं कि वे पहले-पहल १८६१ में हमारी बस्ती में आए और गो कुछ दिनों के लिए बलिया या डुमराँव भटक गए थे, मगर वह कुछ यों ही था। उनके जीवन का तमाम रोना और गाना यहीं रहा। जवानी भी यहीं बीती। सुफैदी भी यहीं कटी।

मुझे वह दिन आज भी याद है, जब पहले-पहल मौलवी साहब के दर्शन नसीब हुए।

मेरे पिता को चौपायों और परिंदों को पालने का बेहद शौक़ था। पक्षियों के लिए एक अलग घेरा था, पशुओं के लिए एक अलग। एक ओर तार के कटघरे में रंग-बिरंग की चिड़ियाँ पल रही थीं। दूसरी ओर खरगोश, झाँक, हिरन और चीते थे। हिरनों की हवेली बँगले के सामने ही थी।

जाड़े का सुनहला दिन था। गुलाबी धूप। हमलोग थोड़ी दूर 'काव' के किनारे मुर्गाबियों के शिकार के लिए

निकले थे। तीसरे पहर जब हमारी फिटन लौटी, तो मेरे पिता की नज़र एकबारगी एक अजनबी पर पड़ी, जो हिरनों के कटघरे के भीतर उनसे खेल रहा था। मेरे पिता को कुछ कुतूहल-सा हुआ। मीर साहब और तेरू खाँ साथ थे। आपने मुड़कर पूछा—"खाँ साहब, यह कौन हैं?"

"हुज़ूर यह अमीन साहब के बड़े भाई हैं—मौलवी मुरादबख्श। शायद किसी पाठशाला के गुरू भी हैं।"

"आदमी तो तबीयतदार-से नज़र आते हैं!" मीर-साहब ने कहा।

"तबीयत का तो मुझे पता नहीं, मगर हाँ, दिल ज़रूर रखते हैं"

"वल्लाह! आपने इसी अर्से में दिल की तलाशी भी ले ली!"—मीर साहब ने मीठी चुटकी ली।

"तलाशी तो इन बेज़बान जानवरों ने ली। देखते नहीं, वह कस इतमीनान से उनकी हथेली से चने के दाने चुन रहे हैं!"

जेब की तलाशी तो मैंने सुनी थी, पर दिल की तलाशी क्या बला है—इसका मुझे पता न था। तबीयत और दिल की बारीकियों को समझने की शायद क्षमता ही न थी।

तेरू खाँ से पूछने पर भी जब इन पेचीदगियों का छोर न मिला, तो मैंने इसे स्मृति-पट पर आँककर रख लिया। आखिर कभी तो यह राज़ खुल सकेगा!

मेरे पिता का दरबार कवियों और शायरों का ख़ासा अड्डा रहा। इस भावविलासिता की लहरी में मेरे बचपन की नादानियाँ भी विलीन हो गई थीं। यह वह ज़माना था, जब कालिंदी-कूल के निकुंजों से बुलबुल की सदाएँ भी गूँजतीं और गुलेलाला की क्यारियों में कज़ाकी कोयल भी कूक देती। ब्रजवीथियों की बिलखाती गोपियों के लुटते आँचल और लुटती लटों पर लोट-पोट होनेवाले तुरबत की तह से उठती हुई तप्त उसाँसों में भी बराबर दिलचस्पी रखते। इस रसानुभूति के परिसेवन में न मज़हब की दाल गली, न राजनीति की गंध ही घुस सकी। जो रस के सुरूर का भौंरा है, उसके लिए नरगिस का जौहर हुआ तो क्या, कमल का रेणु-कुंकुम हुआ तो क्या? वह तो भाव के नशे का भूखा है। किसी ज़बान के दायरे में तो वह बँधा नहीं।

इस आबोहवा में मजलिसपरस्ती के मालखौलिए का पनपना आसान था। मैं उसी सिन में इस गुलशन के जशन का शैदा बन बैठा। खेल-कूद का सिलसिला छूट गया। कवियों और शायरों की लनतरानियों में मज़ा पाने लगा। मैं कुछ ज़्यादा समझ तो पाता नहीं था, मगर सुनता ज़रूर था। बस, सुनने की एक लगन-सी लग गई। आख़िर इस चकल्लसबाजी का शौक़ मेरे पिता की नज़रों से न छिप सका। फूटती कोंपलों पर काव्य की मादक गुदगुदियों का असर खतरे से खाली नहीं। मुझे बरबस इस कूचे से अलग होना पड़ा। मगर कब तक ? मैं लोट-पोटकर किसी हालत से आ ही जुटता।

मौलवी मुरादबख्श उस वक्त हमारी बस्ती में मौजूद थे। उनके भाई रियासत में अमीन थे और वे शायद कहीं किसी पाठशाला के गुरू थे। मगर रहते थे भाई के साथ। उनके काम में मदद भी देते। दरबार में उनकी रसाई न थी, न उनको कोई रोशनी की तलाश ही थी। हाँ, ज़ाब्ते के ख्याल से छठे—छमासे कभी मेरे पिता के रू-ब-रू आते भी तो बस, बंदगी बजाकर उलटे पाँव लौट जाते। दरबारियों के दायरे से दूर रहते। साहब—सलामत भी शायद मुश्किल से होगी। हाँ, उनकी चाल-ढाल, रहन-सहन के क़िस्से चंद दरबारी दोस्तों में किसी क़दर दिलबहलाव के तोहफ़े ज़रूर थे। उनकी

गर्दन की रूमाल, उनके हाथ का डंडा, उनकी जिस्म का आबनूसी रंग, उनके गले की कोयल-सी कूक, उनकी ठुड्ढी की दाढ़ी की तरतीब, उनके सर पर घुँघराले काकुल की करामात, उनकी किफायतशारी की अनूठी बारीकियाँ, उनकी राम की चर्चा की खब्ती—यारों में आपस की ठठोली के लिए काफ़ी सरंजाम थी।

किसी छछूँदर के सर पर चमेली के तेल की मालिश किसी ने शायद ही कभी देखी हो! मगर हाँ, अमीरों की मनमानियाँ कभी-कभी कमाल की करामात दिखा देती हैं। मेरे एक परिचित नवाब साहब के पालतू पिल्ले के जन्म-दिवस की खुशी में दावतों की झड़ी लगी थी। हज़ारों की आतिशबाज़ियाँ फुर्र कर दी गईं। दरबार के शायरों ने मुबारकबादियों से कमाल के मोती पिरोए थे। उनकी अबलखी कबूतरी के पैरों में सोने की घुंडियाँ पड़ी थीं—गर्दन में एना-मिल की लड़ी। यह तो रहा चौपायों और परिंदों की खुश-नसीबी का ज़िक्र, मगर रईसों के दरबार के दामन के साए में कुछ ऐसे दोपाए भी होते हैं, जिनकी खोपड़ी में छछूँदर की भी अक़्ल नहीं; पर अमीरों की नाक के बाल होने की वज़ह सर पर रौग़ने गुल की मालिश बराबर जारी रहती है। और इत्र से बसे हुए कुएँ के इन मेढकों को ज़ुकाम भी होना ज़रूरी है। इनका अपना गुट होता है और उस गुट की

बंदिशों की वज़ह कोई दरबार में घुस नहीं पाता। मेरे पिता के दरबार में भी कुछ ऐसी गुटबंदी ज़रूर थी। वरना मौलवी साहब को एक बालिश्त भी खड़े होने को जगह मिल जाती। और कहीं नारायण पाठक का मकान मौलवी साहब की पाठशाला के करीब न होता और उनको आदमी की पहचान न होती तो कभी संभव न था कि मैं मुरादबख्श को जान पाता या आज बरबस मेरी कलम उनकी चर्चा दुनिया के सामने पेश करती।

मेरे पिता नीर और क्षीर के पारखी ज़रूर थे। उनकी आँख में मुरौवत के पानी की बाढ़ थी; फिर भी उस पानी की वज़ह उनकी नज़रों की रोशनी धुँधली न पड़ी थी। नारायण पाठक दरबार में रहकर भी दरबारी न थे। जभी तो मेरे पिता की उन पर श्रद्धा थी!

पाठकजी की सिफारिश से मौलवी साहब की रसाई मुमकिन हो सकी और जब मुझे दरबार के दायरे से अलग रखना ज़रूरी समझा गया तो निगरानी के लिए मौलवी साहब रखे गए। यारों ने कुछ चीं-चपड़ तो ज़रूर की, पर किसी की दाल गली नहीं। मौलवी साहब रह गए।

हमारे पाठकजी की धज भी निराली थी। थे तो पुरानी रोशनी के पंडित, मगर 'अरबी न फ़ारसी भैयाजी बनारसी' वाला मज़मून उनके साथ न था। वे फ़ारसी के

पंडित थे। संस्कृत से सरोकार उनका इसी क़दर था कि हिंदू देवताओं के नाम के लिए देवभाषा का आवाहन ज़रूरी था। माला और तिलक की भी कमी न थी। आचार भी उनके ब्राह्मणों के अनुकूल ही थे। मगर हाथी के दाँत दिखाने के और होते हैं, खाने के और। उनके दिल की दुनिया और थी। जब वे फिरदौसी का शाहनामा लेकर बैठ जाते, तो न भूख उनको सता पाती, न नींद। उनका तमाम हँसना और रोना उसी के साथ था। वे मुझे शाहों के क़िस्से सुनाते, और इसी धुन में मस्त रहते।

पाठकजी और तेरू खाँ में दाँतकाटी रोटी तो उस छूत-छात के ज़माने में कभी होने को न थी, मगर दोनों दोस्तों में छनती रही गहरी।

तेरू खाँ आदमी थे मनचले। पाठकजी भी अपनी जवानी में दिलफेंक रहे होंगे। सुफ़ैदी में भी उनकी रंगीनी गई न थी। ज़माना भी था अल्हड़। उनकी आपस की चोंचें मज़ेदार थीं ही, दिल्लगी की चाशनी भी थी। तेरू खाँ ढालते थे और पाठकजी छानते थे। इधर बोतल ढली, उधर बूटी छनी। तेरू खाँ तपाक से फ़रमाते—

"अजी, नशे का शौक है, तो पीकर देखो; शराब गाज़ी मर्द है!"

"हुआ करे ! मेरे गोले के मुक़ाबले उसे पूछता कौन है !"

मथुरा के चौबों का अड्डा पाठकजी के घर पर बराबर रहा। सब्ज़परी की यारी उसी सोहबत में पनपी। ब्रज की बूटी उनकी ब्रज की माधुरी की बानगी रही। लेकिन यह भंग का जाम उनके सूने जीवन में बहार का पयाम था।

मौलवी साहब का रवैया और था। उनके साथ रोज़ा और नमाज़ की पाबंदी तो ज़रूर थी, पर उनके जीवन का व्यसन था—राम की कथा का कीर्त्तन। जब वे रामायण की चौपाइयाँ पढ़कर सुनाते, तो चेहरे की एक-एक शिरा के साथ-साथ उनकी खसखसी दाढ़ी भी भाव में विभोर होकर ताल देती। हमने ताज़िए के दिन हिंदुओं को मरसिया पढ़ते और 'हा, हुसेन !' कह-कह छाती पीटते सैकड़ों बार देखा है, मगर किसी मुसलमान को राम की कथा पर इस क़दर बेक़रार होते पहले देखा, न बाद।

दरबार छूटने का मुझे रंज न था। पाठकजी से रुस्तम की कहानियाँ सुनता और मौलवी साहब से रामायण की चौपाइयाँ। यही सिलसिला चला।

मेरे बचपन की धुँधली स्मृतियों में मौलवी साहब के हाथ की छड़ी ज्यों-की-त्यों हरी है—इसलिए नहीं, कि मेरी पीठ की खाल पर वह अपनी अक्षय रेखा रख गई है; बल्कि

इसलिए कि वह तड़पकर तो बिजली की तरह टूटती, पर जिस्म पर आते-आते फुलझरी-सी चूकर रह जाती और मौलवी साहब नथने फुलाकर कहते—"अच्छा, अबकी तुमने भूल की, तो तुम्हारी पीठ की खाल उधेड़कर धर दूँगा समझे !" और कहीं दुबारा भूल हुई, तो खाल उधेड़ने के बदले वे किटकिटाकर बेगुनाह कापियों पर पिल पड़ते और उनके चीथड़े बनाकर रख देते ।

मौलवी साहब की इस छुई-मुई छड़ी पर दरबार के कवियों ने कुछ पद भी कहे थे । आज याद नहीं । देवी बाबा तो कहते—'अजी यह छड़ी क्या है, माशूक की मीठी झिड़की है ।'

एक बार वे मुझ पर भी बरस पड़े । ज़माना होली का था । मौलवी साहब छुट्टी देने की बात पर और भी तन गए । हिसाब के मसले हल करने के लिए दे गए । मैं एक सहपाठी की किताब के सिरे पर मौलवी साहब की अबीरी दाढ़ी शीर्षक एक व्यंग्य चित्र तैयार करने में मसरूफ़ था । जाने कैसे मौलवी साहब ने ताड़ लिया । वे तमककर उठे और मेरी काली करतूत पर उनकी निगाह पड़ी, तो तड़ाक-से वही फुलझरी चला दी और कापी छीनकर सामने तालाब में फेंक दी । वैसे तो दो-चार छड़ियाँ औरों के सर पर भी चल गईं । हमलोग सन्न हो गए । पिताजी का गुस्ताख़ ख़ानसामा

रामयाद—जो नज़दीक ही बैठा पान चबा रहा था—तमतमाया हुआ आ पहुँचा और ज़ारा रोब के साथ कह बैठा—"मौलवी साहब! ज़रा आदमी देखकर हाथ उठाइए। कहीं सरकार को ख़बर हुई, तो तमाम बधना-बिस्तर लपेट घर की राह लेनी पड़ेगी।"

मौलवी साहब तो एकबारगी स्याह हो गए। धस्-से कुर्सी पर बैठ गए। मगर दूसरे ही छन सर पर टोपी सँभाल उठ पड़े और तालाब के दूसरे सिरे पर—जहाँ पिताजी बैठे कुछ लिख रहे थे—बेतहाशा फट पड़े। आपने छूटते ही कहा—"हुजूर! मैं अमीरों के लड़कों को पढ़ाने के क़ाबिल नहीं हूँ। मुझे माफ़—"

मैं भी मौलवी साहब के साथ-साथ सिटपिटाता हुआ जा पड़ा और खंभे की आड़ में खड़ा हो गया।

"आखिर बात क्या है?" मेरे पिता ने ज़रा चौंककर पूछा।

"हुज़ूर, मैंने किसी दरबार में तो तालीम पाई नहीं। यहाँ की तमीज़ से मुझे—"

हठात् मेरे पिता की निगाह मुझ पर जा पड़ी और यह समझकर कि मैंने कोई गुस्ताख़ी की होगी, डपटकर बोले—"इधर तो आ!"

मुझे काटो तो ख़ून नहीं। कहाँ मैं चला था तमाशा देखने, कहाँ खुद ही शिकार बनने की नौबत आ पड़ी। आख़िर सामने आना ही पड़ा।

मेरे पिता गुस्से से लाल हो गए। उनकी पाँचों उँगलियाँ गले पर बन गईं।

"क्यों बे! तूने गुस्ताख़ी—"

मौलवी साहब के तो हाथ के तोते उड़ गए। उनका मुलायम दिल मचल पड़ा। वे तो आए थे खानसामे की गुस्ताख़ी कहने, कहाँ बला मेरे सर पर आ गई। वे लपककर सामने आए और मुझे पिता के पंजे से छुड़ाते हुए बोले—"नहीं हुज़ूर! इस बच्चे का कोई क़सूर नहीं। यह तो एक पैर पर खड़ा रहता है!"

"तो फिर?"

"हुज़ूर! वह खानसामा जो है—क्या नाम है उसका—उसीने बेवजह धसकर शोख़ी से—"

"अच्छा, वह मेरे वालिद के वक़्त का मुँहलगा है। ख़ैर, मैं उसे मना कर दूँगा।"

और उस दिन से खानसामे को अपना पानदान-पीकदान उस कमरे से अलग हटाना पड़ा। मौलवी साहब का बिस्तर और बधना ज्यों-का-त्यों आबाद रह गया।

यह बात और है कि मौलवी साहब से पढ़ने का सिल-सिला चंद महीने भी मुश्किल से रहा। रामायण की चर्चा कुछ दिनों तक ज़रूर चली, मगर ग्रैजुएट मास्टरों के आते ही अंग्रेजी शिक्षा का दौर चल पड़ा।

मौलवी साहब रामायण तो झूम-झूमकर सुनाते ही, महाभारत के क़िस्से भी बड़ी सरगर्मी से बयान करते। राम-कथा की चर्चा उनकी अपनी चीज़ थी। उस रंग से रँगे ही न थे, उसमें डूबे हुए थे। इस ख़ब्ती की वजह तरह-तरह की बदगुमानियाँ फैलती रहीं। धर्मध्वजी पंडितों ने एक म्लेच्छ के मुँह से राम का नाम सुनकर कान खड़े किए। मुल्लाओं ने एक मुसलमान के मुँह राम का नाम सुनकर आँखें लाल कीं। मगर इन कान और आँखों के दर्म्यान मौलवी साहब का ईमान अपनी आन पर डटा रहा। जिन्होंने राम को अपनी खास मिरियास समझ रखा था, उन्हें यह पता न चल सका कि राम को अपनापन की परिधि में बंद रखकर वे उनकी सार्वभौमिकता की जड़ में

कुल्हाड़ी मार रहे हैं। और जिन्होंने राम को पराया काफिर समझा था, उन्हें यह पता न चल सका कि राम को अपनाने से इसलाम की कुशाददिली का दावा दून ही पर होता है—एक जौ भी अपनी उँचाई से लरज़ नहीं पाता।

एक दिन हक़ीम तज़मुल हुसैन ने मौलवी साहब की खुलेआम मरम्मत की। बात बढ़ गई।

"आख़िर मौलवी साहब, मुसलमान होकर यह राम की बंदगी कुछ समझ में नहीं आती। अगर बुतपरस्ती पर ही दिल लट्टू है, तो फिर दाढ़ी मुड़वाकर झाड़ू की तरह चुन्नी लटकाइए! आपने अपना तो मुँह काला किया ही....मगर हाँ, मैं भूलता हूँ, कुदरत ही ने मुँह काला कर रखा है! शायद आपको इस कालिख का पता तक नहीं चलता।"

"क्यों हकीम साहब! मैं पूछता हूँ, हिंदू जो हुसैन के नाम पर मातम करते हैं, इससे उनकी नाक कट गई? मैं तो समझता हूँ, एक मुसलमान भी राम की क़द्र कर सकता है। जो रुस्तम की जवाँमर्दी के क़िस्से पढ़ जोश में आता है, वह अगर सच्चा है, तो फिर 'महावीर की जय' से भी उसके ख़ून में उबाल क्यों न आवेगा? जो यज़ीद के ज़ुल्मों पर थर्रा उठता है, वह क्या कौरवों के अत्याचार पर नहीं उबल पड़ेगा? जो मुहम्मद का क़ायल है, वह राम

के आगे भी सर झुकाता है तो इसमें ताज्जुब की गुंजायश कहाँ है !....और खुदा गवाह है,

> **'सर रख दिया हमने दरे जानाना समझकर**
> **काफ़िर हो जो सिज़दा करे बुतखाना समझकर'।"**

इधर स्कूल के लड़कों को भी, मौलवी साहब कभी अपनी धुन में आते तो, कुछ समझा ही देते—

"भाई, राम और रहमान तो बस, एक है। हमारी ज़बान, हमारा लिबास दो होने से वह दो नहीं होता। वह तो एक है। हाँ, उसके दर तक पहुँचने के लिए कोई मंदिर की राह ले या मसज़िद की सड़क पकड़े। मंजिल तो तुम्हारी दो नहीं। तुम्हें बी० ए० की डिग्री लेनी है। हमने अलीगढ़ यूनिवर्सिटी से पढ़कर डिग्री ली, तुमने हिंदू यूनिवर्सिटी से ली। कोर्स की किताबें अलग-अलग हैं। पढ़ाने के तरीके भी, मुमकिन है, जुदा-जुदा हों। यूनिवर्सिटियों की अपनी-अपनी अलग निशानियाँ भी हैं। मगर सरकार की निगाह में उस डिग्री का जौहर तो एक ही है, यूनिवर्सिटी चाहे कोई भी हो।"

मौलवी साहब अक्सर कहा करते थे—"भाई, आदमी का धर्म तो बस, एक है।"

"आख़िर वह है क्या ?" काश किसी ने पूछा, तो

हँसकर कहते—"इसलाम ! मेरा इसलाम तो वही है, जो हरेक आदमी का धर्म है, यानी तुम दुनिया से वही बर्ताव रखो, जिसकी उम्मीद तुम अपने लिए भी उससे रखते हो।"

× × ×

हिंदी प्राइमरी स्कूल के शिक्षक की हैसियत से रामायण की क़द्रदानी तो कोई सनसनीखेज बात न थी। यह रुझान इसी उफ़ान तक सीमित रहती, तो शायद किसी मुल्ले को इस व्यसन की तह में कुफ्र की गंध न मिलती। मगर जब हिंदू संस्कृति से संबंध रखनेवाली चंद और निशानियाँ उनके व्यक्तित्व की सतह पर नमूदार हो गईं, तो ईमानवालों की टोली में खलबली-सी मच गई। अहिंसा, जीवों पर दया, मांस-मछली से परहेज, बिना स्नान किए मुँह में एक दाना न देना, घर से कहीं दूर जाते वक्त यात्रा पूछकर पौर से बाहर क़दम रखना, पुराणों का अनुशीलन और मनन—ये सब बातें कुछ ऐसी थीं कि रमज़ान को रोज़ा और चेहरे की दाढ़ी भी काफ़ी सफाई न दे पाती।

एक दिन का ज़िक्र है, हम लोग 'काव' के किनारे मुर्ग़ाबियों के शिकार की तलाश में गए थे। निकले थे सुबह ही। पर दिन-भर बालू की रेती में चक्कर काटते रह गए, कुछ भी हाथ न आया। टीलों की टोली पर तेरू खाँ

ने झाऊ की झाड़ियों की आड़ से निशाने भी लगाए, पर न जाने क्यों, घोड़ा दबने के पहले ही वे 'कूँ-काँ' कर उड़ गए। उड़े तो सही, पर उड़कर उन्होंने आसमान नहीं थाम लिया। चक्कर काट कुछ दूर आगे बैठ गए। हम लोग फिर बढ़े। वे फिर उड़े और फिर बैठे। हम भी बढ़े। शौक भी बढ़ा। इस मरीचिका की धाँधली में उधर वे जितने अलग होते गए, इधर उतना ही लोभ तरक्की करता गया। गए थे शिकार खेलने—खुद इस बला के शिकार हो गए। आख़िर जब अँधेरा होने लगा, तब आँखें खुलीं। भूख और प्यास से जान होठों पर आ गई।

घर से बहुत दूर निकल आए थे। अब सूने चार-पाँच मील बालू की रेती की मंजिल तै करना जान का बवाल हो गया। मगर करते क्या? फिटन सड़क पर खड़ी थी, और सड़क थी कोसों दूर।

टाँग घसीटना पहाड़ हो गया और भूख लगी शरीर का दम तोड़ने। वह तो भला करे भगवान उस देहाती पासी का, जिसके सर पर बगेरियों की डाली निकल आई, वरना सड़क तक आते-आते कितनों की मौत आ जाती!

तेरू खाँ ने लपककर उसे आवाज़ दी। वहीं सूखी घास-फूस बटोर चंद बगेरियाँ भून लेने की ठहरी। उस सूनसान में कुछ और तो मयस्सर था नहीं। और इधर

भूख की शिद्दत से आँतें गरदन तक उचक रही थीं।

जेब में पैसे तो थे नहीं। हाँ, सुंदर की टेंट से एक दुअन्नी निकल आई। काफ़ी थी। बगेरियाँ भी उस ज़माने में पैसे की तीन आती रहीं।

डाली में दर्जनों बगेरियाँ थीं। तेरू खाँ ने कोई दो दर्जन बगेरियाँ खरीद लीं। और जेब से झट छुरी निकालकर जबह करने बैठ गए।

खाँ साहब परिंदों के गोश्त के पारखी थे। सुबह-शाम कंधे पर बंदूक रख दो-चार चाहे या फाख़्ते ज़रूर शिकार कर लाते। वे छर्रे की चोट खाकर गिरे नहीं कि आप दौड़कर उनको उठा लेते और मरे हों या जिंदे, 'बिसमिल्लाह!' कह छुरी से उनकी गरदन रेत देते। कहीं चाहा छुढ़क-कर कमर-भर पानी में जा पड़ा और मरकर उतरा गया तो वे तड़पकर रह जाते। फिर भी पानी से निकलवा उसकी गरदन रेत देखते कि लहू का एक क़तरा भी आता है या नहीं। अगर टपक पड़ा तो फिर खुशी-खुशी उसे 'जबही' क़रार दे अपनी झोली में रख लेते।

तेरू खाँ की छुरी अभी आधी बगेरियों पर भी नहीं फिरी होगी कि जाने कहाँ से मौलवी मुरादबख्श टपक पड़े। बालू की रेत पर दर्जनों बगेरियों की तड़फड़ाती लहू-लुहान देह देख वे एकबारगी सकते में आ गए। एक छन

ठिठके खड़े रहे। फिर पासी को तलब कर उसकी डाली की बाक़ी बगेरियों की तादाद दरियाफ़्त की। उसने कहा—"पैसे के दो।"

"अच्छा तो गिन दे।"

मौलवी साहब ने दो आने में बाक़ी बगेरियाँ चटपट वहीं खरीद लीं और फिर बात की बात में एक-एक करके उनको उड़ा दिया। पासी तो ज़र्द पड़ गया। तेरू खाँ तमककर लाल हो गए। हमलोग तो दाँतों-तले उँगली रख दंग थे।

"क्यों साहब! यह कौन-सी हरकत है आपकी?" तेरू खाँ ने तुर्श होकर पूछा।

"काश, मैं भी पूछता—'यह कौन हरकत है आपकी'?"

"क्यों? मैंने मोल ली है खाने के लिए!"

"मैंने भी बराबर मोल ली है। आपको अगर जान लेने का हक़ है, तो किसी को जान बख्शने का भी हक़ हो सकता है।"

"ओहो! यह बात है! आपका अंदाज़ ही दुनिया से निराला है मौलवी साहब!"

"ख़ैर, निराला ही सही। माफ़ करना! मुझसे देखा नहीं गया इन नन्हीं-सी चिड़ियों की गरदन पर छुरी फिरते।

आपकी तो एक अदा ठहरी और उनकी जान गई।"

"यह तो ख़ूब रहा! आख़िर इन परिंदों की पसलियों को दाँतों-तले तोड़ते वक्त भी जनाब की आँखें तर होतीं...."

"यहाँ तो खाता ही नहीं साहब!"

"तो क्या कंठी बाँध ली है! यह लंबी दाढ़ी और कंठी! काबा का काबा है, बुतख़ाना का बुतख़ाना! आख़िर आपकी यह हरकत इसलाम को भी तसलीम होगी?"

"उसे क़बूल न हो, मेरे दिल को तो क़बूल है!"

"तो फिर आपके दिल को इसलाम क़बूल नहीं?"

"साहब! इसलाम का मानी परिंदों की गरदन पर छुरी रेतना नहीं!"

"तो फिर कुरबानी कैसी?"

"वह चीज़ अलग है। आपको बगेरियों की बिरियानी पसंद है, तो शौक़ से खाइए। और इसलाम की आड़ न लेकर भी यह शौक़ मज़े से मिट सकता है!"

उसी दिन मुझे पता चला कि मौलवी साहब गोश्त-मछली भरसक नहीं खाते। पर कुछ ही दिन बाद मैंने उनको एक जलसे में इतमीनान से खाते पाया, तो मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। वह घटना यों है—

मेरे चचा के घर लड़के की छठी का जशन था। तपाक की तैयारी थी। दर्जनों खस्सी कटे थे। कचौड़ी और

मालपूए तो थे ही, कबाब और क़ोरमे भी चुने थे। नवेदिए थे हिंदू और मुसलमान दोनों। अलग-अलग क़रीने से खाने का इंतज़ाम भी था।

सामने चबूतरे पर गाने की मजलिस थी। गाने आई थी आरा से कोई शोख़ कमसिन। सारा दालान राग-रंग से झूम रहा था।

मुसलमानों की पाँत में खाना शुरू ही हुआ था कि एकाएक एक हंगामा-सा उठ खड़ा हुआ। मैंने तो पहले समझा कि प्याले का तूफ़ान है। पर जब किसी ने गला फाड़कर कहा—"हैं-हैं! यह कर क्या रहे हो? अमाँ, गोश्त जबही नहीं है!"—तो मैं लपककर सामने आया। देखा—एक लंबी दाढ़ीवाला भलाआदमी लंबा कुरता और लुंगी डाटे बड़े तैश में आ रिकाबियों से कबाब और कलिया बटोर-बटोर ताबड़तोड़ खिड़की की राह बाहर फेंक रहा है! मैं तो दंग था, वह इस झपाक से फट पड़ा है कि खुदा की पनाह! तमाम मुसलमान मुँह फाड़ देख रहे हैं।

मौलवी मुरादबख्श तो अलग चुप बैठे थे। पर जब मुल्ला साहब की सरगर्मी तेज़ होती गई, तो आप खिसककर सामने आए और अपनी रिकाबी में कबाब के बिखरे टुकड़े रख इतमीनान से खाने लगे। और लोग तो हाथ समेट सकते में थे, पर मौलवी साहब चुपचाप खाते रहे।

तब तक एक ज़न्नाटे की आवाज़ मौलवी साहब के कानों पर फट पड़ी—"हैं-हैं ! यह क्या निगले जा रहे हैं आप ?"

"क्यों, क्या हुआ ?" मौलवी साहब ने मुड़कर पूछा।

"जैसे जानते ही नहीं आप ! मियाँ, यह जबही नहीं !" और मुल्ला साहब ने सामने की रिकाबी उठाकर वह फेंकी कि फर्श पर गिरकर चूर-चूर हो गई।

मौलवी साहब बड़े इतमीनान से बोले—"बला से, खाने में तो मज़ेदार है।"

"आख़िर ईमान का भी पता रखिए।"

"जी हाँ। और इसका भी पता है कि यह हिंदू का घर है और मैं मेहमान हूँ।"

"मगर आप भूल रहे हैं, आप मुसलमान भी हैं। फिर आपको हलाल और हराम की तमीज़ भी रखनी है।"

"जब एक हिंदू दोस्त के यहाँ खाने बैठ चुका हूँ, तो कोई मुज़ायका नहीं। काश, कोई हिंदू आपके घर खाने आए, तो आप झटके का खस्सी नहीं खिलाते, उसे जबही ही खिलाते हैं।"

"अजी, हिंदुओं के साथ यह सवाल नहीं।"

"तो मेरे साथ भी हिंदू के घर यह सवाल नहीं उठने का।"

"मैं पूछता हूँ, किसी हिंदू के सामने गाय का गोश्त

परसिए, तो उस पर क्या गुज़रेगी ?"

"ज़रूर ! मगर हमारे सामने सुअर का गोश्त नहीं परसा गया है !"

"बात तो दुरुस्त है, मगर इसलाम को ताक़ पर रख हम किसी हिंदू के घर नहीं आते ।"

"अजी साहब, तौबा कीजिए ! मेरा इसलाम कुछ इस क़दर कच्चा नहीं कि एक लुक़मा हिंदू के चौके का गोश्त खा लिया, तो वह कहीं का न रहा । यह तो वही हिंदुओंवाली ख़ब्ती ठहरी कि मुसलमान के बधने का पानी उनके हलक़ के नीचे उतरा और उनकी जात साफ़-साफ़ बह गई । हाँ, इसलाम को ताक़ पर रखने का सवाल जो आपने छेड़ा, तो हमीं में यहाँ कई एक हैं, जो उसे ताड़ीख़ाने के दरवाज़े पर रखकर अंदर घुस लबनियों में दाढ़ी डुबो आते हैं । और फिर......"

"तो आख़िर आपका इशारा यही है न कि मैं ताड़ी-बाज़ हूँ ? आप साबित करें, वरना ....."

"लो भाई, न खाऊँगा ! क्यों नाहक उबले जा रहे हो ? मेरा सर मुझे कुछ भारी थोड़े ही हुआ है, जो आप ऐसे बुज़ुर्ग को ताड़ीबाज़ कहता चलूँ !.....मगर हाँ, सुना आपने, वह गा क्या रही है ? बड़े पते की चीज़ है यार !"

गानेवाली एक देहाती चीज़ छेड़े हुए थी—

'घूँघट उघारि जब पिया मुख देखिहैं,
करबौं मैं कौने बहनवाँ हाय राम ?'

"सचमुच भाई, क़यामत के दिन जब यह घूँघट उलट मुँह का मुआयना करेगा, तो फिर सफ़ाई देना ज़रा टेढ़ी खीर होगा !"

मुल्ला साहब गुस्से में भूत मौलवी साहब की ओर लपके; मगर वे हाथ भी न बढ़ा पाए थे कि मौलवी साहब सलाम करके यह जा और वह जा।

महफ़िल मुँह ताकती रह गई।

दूसरे दिन पाठकजी ने हँसकर उनसे पूछा—"तो कल आपने कंठी तोड़ दी मौलवी साहब ?"

"आख़िर क्या करता ? मुझसे एक शरीफ़ की तौहीनी नहीं देखी गई। शरीयत का तक़ाजा तो है ही, मगर आदमीयत का तकाज़ा भी तो है ! मैं किसी हिंदू भाई के घर ज़बही की छान-बीन करता फिरूँ, तो यह सरासर हिमाक़त होगी। तुम्हें शक है, न खाओ, टाल जाओ। यह हंगामा करके मज़हबी जोश को ललकारना कौन-सी रियासत है ! आख़िर मियाँ के मुँह से अभी ताड़ी की बू भी न गई थी और उस पर इसलाम की दुहाई दे सर पर आसमान उठा लेना—गोया वही एक ईमानवाले हैं और हम सब तो जैसे काफ़िर का नमक खाए हुए हैं !"

मौलवी साहब में किफ़ायतशारी तो कूट-कूटकर भरी थी। पर तनख्वाह का एक बँधा हिस्सा वे—पानी पड़े या पत्थर—गरीबों में ज़रूर बाँट देते। जब वे पाँच रुपए माहवार पर एक अदने-से गुरू थे, उस वक्त भी इस उसूल के गुरुत्व से जौ-भर भी नहीं डिगे और जब वे तीस रुपए चरम तनख्वाह के एक ऊँचे शिक्षक के तबक़े में आ गए, तो एक हिस्सा ईमान की तरह सँजोकर रखना और एक हिस्सा बग़ैर किसी पशोपेश के बेकसों पर खर्च कर देना उनका अलंघ्य नियम रहा। हाँ, अपने ऊपर कानी चित्ती भी फ़ाज़िल खर्च करने को तैयार न थे—बला से दुनिया उनको पैसे का पिस्सू कहा करे! भात और भुर्ते से पेट भर ही गया, तो फिर ज़बान को चटपटे की चाट देकर उसे चटोर करने से फ़ायदा? यह न था कि वे फटेहाल थे। सफ़ाई की तो यह धुन थी कि एक तिनका भी अपनी जगह

से हिल नहीं पाता, अँगरखा एक बार सिल गया, फिर सिल की तरह न फटा, न टूटा। उसे वे तह देकर रखते और रोज़मर्रे के इस्तेमाल पर भी एक आँख बराबर रखते। दाढ़ी के बाल पक गए, पर अँगरखे पर बल न आया। बीसों बरस ज्यों-का-त्यों बना रहा। बुढ़ापे से न कमर झुकी, न इस्तेमाल से अँगरखे ने ख़म खाया। एक जोड़े अँगरखे पर जिंदगी नहीं कटी, तो जवानी तो ज़रूर खप गई! फिर दूसरे जोड़े पर बुढ़ापा गुज़र गया। और लुत्फ़ यह कि रोज़मर्रे क्लास में वे अपनी लिबास में दुरुस्त-मौजूद। न कभी छुट्टी की अर्जी दी, न कभी हाजिरी में देरी। एक तो तपस्वी की सादगी, दूसरे वक्त की कड़ी पाबंदी। इसी उसूल से पचहत्तर के सिन में भी उनके जिस्म पर कहीं शिकन तक न थी। पाँच-सात कोस पैदल चलना तो उनके बाएँ हाथ का खेल था। वे न कभी चाय और चुरुट के चकमे में पड़े, न कभी पान और बीड़ी को मुँह में जगह दी।

वक्त की पाबंदी के साथ-साथ उनकी ज़बान की पाबंदी भी अटल थी। किसी से कभी दो-चार रुपए हथफेर ले भी लिए, तो वादे के दिन उसे चुकाकर ही तो मुँह में अन्न दिया। कहके मुकर जाना तो कभी किसी ने आज तक सुना ही नहीं। जब जिसे ज़बान दी—बस, हाथ काट-कर रख दिया!

मौलवी साहब

उनकी जिंदगी की एक-एक घड़ी बराबर कर्त्तव्य के कूचे में कटी। दिन को खूब खटते। रात को खूब सोते। दिन को सोने और रात को जागनेवालों की महफिल से वे बचकर चलते थे। मैं यह नहीं कहता कि उनकी मथुरा तीनों लोक से न्यारी थी। पर हाँ, उनकी कमली पर दुनियादारी का कोई रंग कभी चढ़ा ही नहीं। किसी नाच-तमाशे में वे भूलकर भी न जाते। काश, कभी खिँचकर आ गए तो खिँचे-से छुन-भर बैठ जाते। और जब बैठे-बैठे ऊँघने-से लगते तो लोग उनकी बेबसी पर बख्श देते। कोई मनचला छेड़ भी बैठा, तो हँसकर चुप हो जाते। कमसख़ुन तो वे थे ही, बात पीने का भी माद्दा था। कभी ऊबकर कुछ कह भी दिया, तो माफ़ी माँग ली। मौलवी साहब की सादगी यारों की दिल्लगी का सामान थी। उनको बनाने में एक अजब मज़ा था।

मौलवी साहब बनते न थे। पर लोग बनाने से बाज़ न आते। एक दफ़ा महफ़िल में उनकी काफ़ी मरम्मत हुई। उस दिन चकल्लस का बाज़ार गर्म था। कुमारी फर्श पर बैठी हारमोनियम पर गा रही थी। जाम तो दौर पर था ही, मीठे गले के सुर का सुरूर भी था। मौलवी साहब को इस मजलिस से क्या वास्ता? मगर लोग तो कुछ मज़ाक के मसाले ढूँढ़ रहे थे।

हनुमान पंडित थे बड़े ख़ामख़ाह। उनको मौलवी साहब की हजामत बनाने की सूझी। बस, जैसे-तैसे उनको सोते से जगा लाए। मौलवी साहब सिटपिटाते हुए आए और एक कोने में सकपकाकर बैठ गए।

कुमारी ग़ज़ल छेड़े हुए थी—

"इलाही कैसी-कैसी सूरतें तूने बनाई हैं,
कि हर सूरत कलेजे से लगा लेने के काबिल है!"

पंडितजी ने छेड़ा—"अहा! यह दरियादिली! हर सूरत कलेजे से लगा लेने के काबिल है! मौलवी साहब, सुना न आपने! खुल गई क़िस्मत आपकी भी आज! हाँ, तो बाईजी, बनती तो तुम हो समदर्शी, पर मैं पूछता हूँ, काश कोई भद्दी-घिनौनी सूरत तुम्हें लपककर कलेजे से लगा ले, तो तुम्हें इन्कार तो न होगा?"

कुमारी चट पंडितजी की ओर मुड़ गई—"अच्छा, तो हुज़ूर खुद ही आजमाने की फ़िक्र में हैं?"

पंडितजी तो वहीं कटकर रह गए। उनकी तमाम फुर्ती फुर्र हो गई। पर तेरू खाँ ने डपटकर कहा—"पगली कहाँ की! यहाँ सवाल यह है कि खुदाताला ने मौलवी साहब की भी तो सूरत बनाई है। यह भी तुम्हारे कलेजे से लगा लेने के क़ाबिल होगी?"

कुमारी ने सिटपिटाए मौलवी साहब पर एक नज़र डाली।

फिर मुँह में रूमाल देकर हँस पड़ी।

"हुज़ूर, मैं नाचीज़ इस क़ाबिल नहीं हूँ।"

"सो क्यों ?"

"मैं ठहरी हिंदू ! हिंदुओं के लिए जामवंत तो एक देवता हैं। मैं तो आपको जामवंत का अवतार समझ दूर ही से प्रणाम करती हूँ।"

पंडितजी को दम मिला। मौलवी साहब की मरम्मत पर बाछें खिल उठीं। आप फिर छेड़खानी पर आए—"ख़ैर भाई, यह न देवता हैं ! जाने भी दो, तुम्हें और किसी से तो इनकार न होगा ?"

"हाथ जोड़ती हूँ पंडितजी, नाम ही भर हनुमान रहता तो खैर......हाँ......सामने वह शीशा भी है !"

पंडितजी वहीं ढेर हो गए। फिर किसी को छेड़ने की हिम्मत न हुई। जोरों के क़हक़हे पड़े। मौलवी साहब चुप बैठे रहे। चेहरे पर कोई शिकन तक न थी। गाने की लहर फिर बढ़ी। कुमारी ने ठुमरी छेड़ी। लगे लोग झूमने। महफ़िल लोटपोट हो गई। कितने तो जामे के बाहर उछल पड़े।

तेरू खाँ ने मौलवी साहब की पसली में अपनी छड़ी डाली—"अरे भाई, ज़रा इधर भी रुख़ करो ! क्या चुँथे बटेर की तरह......"

"जी हाँ, मैं सुन रहा हूँ।"

"सुन तो रहे हैं आप, मगर कुछ देख भी रहे हैं?"

"जी हाँ, देख भी रहा हूँ!"

"वह क्या?"

"यही कि गा तो रही है वह और नाच रहे हैं आप!"

मौलवी साहब की सूरत पर बौछार दरबारियों में आम बात थी। जहाँ कोई मौक़ा मिला कि एक छींटा कस दिया। हाँ, मौलवी साहब जब उन चुभती हुई चोटों की भरमार से ऊब-से जाते तो वक़्तन-फवक़्तन एकाध पटे का हाथ भी लगा देते।

गर्मी के दिन थे। हम लोग तालाब के किनारे टहल रहे थे। मौलवी साहब तो थे ही, हकीम तजमुल हुसैन भी थे। कहीं से पाठकजी भी आ टपके और आते ही हँसकर बोले—"हकीम साहब, सुना है आपने? बेचारे जान खाँ तो डूब गए!"

हकीम साहब चकराए—

"कहाँ? इसी तालाब में?"

"अजी तालाब नहीं, नाबदान में!"

"तौबा कीजिए! यह कब?"

यह जान खाँ हमारे यहाँ एक नामी घुड़सवार थे। ज़ीन और रकाब तो कभी वे पूछते भी न थे। घोड़े की ख़ाली

पीठ पर उनकी फुरती देख लोग दाँतों-तले उँगली रखते। पाठकजी खुले, तो पता चला कि खाँ साहब एक डोमिन की चुटीली चितवन के शिकार हो चुके हैं*। बीबी-बच्चे को ठुकराकर उसीको लेकर बैठ गए हैं। लोग समझाकर हार गए। किसी की एक भी न सुनी उन्होंने। जब दिल की पपड़ियाँ किसी चितवन की चोट की चाशनी खाते-खाते उस रस में रम जाती हैं, तो फिर दुनिया की कोई भी न्यामत उसे छू नहीं पाती। पाठकजी से यह भी पता चला कि सरकार को भी भनक हो गई और दरबार का दरवाज़ा भी बंद हो गया उनके लिए। बैठे-बिठाए आफ़त मोल ले ली।

हठात् जान खाँ पर नज़र पड़ी तो देखा, तालाब के दूसरे सिरे पर बैठे आपही आप कुछ गुनगुना रहे हैं। आज ठाट-बाट भी कुछ अजब निराला है। कान में फाहे। गले में रूमाल। किसमिसी तहबंद। ज़ीन की कमीज़ के ऊपर के दो दाँतों में सोने की एक-एक चमकती मेख़। हकीम साहब आगे बढ़ गए और ज़रा मुस्कुराकर बोले—"क्यों खाँ साहब, किस रंग में हैं? ज़रा जोर से कहिए न? हम भी कान रखते हैं!"

---

*स्वर्गीय पिताजी की ग्रंथावली में इसी घटना के उल्लेख पर एक छोटा-सा पद है। वह यों है—

"सुंदर सुभग [illegible] बरनि न जाय।
तुरकहिं नाच नचायो, नैन नचाय।"

जान खाँ ने छाती पर हाथ रख अदा से गाया—

"पाला था जिस दिल को मैंने नाज़ से
तीर-नज़रों का निशाना हो गया !"

"क्यों-क्यों, ख़ैरियत तो है ?"

"बस, कुछ न पूछिए, लुट गया........ओफ़ तेरी काफ़िर जवानी जोश पर आई हुई ! घर छूटा, दरबार छूटा—गला नहीं छूटता। आपने सुना नहीं—"

"बस, तौबा कीजिए ! आपकी तबीयत भी आई, तो एक कुतिया पर ? कोई और बुते-काफ़िर नहीं मिली क्या ?"

मौलवी साहब को बात बुरी लगी। चट बोल उठे—"अजी वाह ! कुतिया तो खाँ साहब की तबीयत ठहरी ! वह बेचारी ग़रीब कुतिया कब होने गई ?"

खाँ साहब गुर्राए। मुड़कर मौलवी साहब को तिरछी नज़रों से देखा। बोले—"कभी आईने में मुँह भी देखा है आपने ? इस मरियल सूरत को तो कोई बाज़ारू कुतिया भी न पूछेगी....!"

"तो भाई, अल्लाह का शुक्र है, अच्छी सूरतवालों को ही वह मुबारक रहे !"

बात तो ख़त्म हो गई, मगर खाँ साहब के तेवर पर बल चढ़े ही रहे। लगे हुक्के के कश ले-लेकर धुएँ की चादर

तानने। कुछ इधर-उधर की बात छिड़ी। खाँ साहब के पेट में तो चूहे कूद रहे थे। मौलवी साहब को आड़े हाथों लेना था। घूमकर वे फिर पैंतरे पर आए।

"क्यों हकीम साहब! आपकी तिब में आदमी की सूरत बदलने की भी कोई सूरत है?"

हकीम साहब ने अकचकाकर पूछा—"सूरत बदलने की?"

"जी हाँ! सुना है विलायतवालों ने कुछ ऐसी पालिश ईजाद की है, जो इनसान की सूरत तबदील कर दे। फिर तो बहुतों की घिनौनी सूरत भी नूरानी बन सकेगी!"

"साहब, मुझे तो ऐसी दवा का पता नहीं। हाँ, मौलवी साहब से पूछिए, शायद कुछ पता दे सकें।"

"हाँ-हाँ, ज़रूर! मौलवी साहब को तो इसमें दिलचस्पी ज़रूर होगी।" खाँ साहब ने हँसकर कहा।

मौलवी साहब बोले—"जी नहीं! मैं तो समझता हूँ, आदमी की शक्ल के इलाज से कहीं ज़्यादा ज़रूरी उसकी अक्ल का इलाज है।"

"यह लो! आपको अक्ल की दवा की भी ज़रूरत पड़ गई?"

"बेशक! हमारी अक्ल सही रहती, तो हम एक चुल-बुल शक्ल के पीछे बीबी-बच्चे को ठुकरा देते?"

वे सुख के दिनों के साथी न थे। हमारी हँसी-खुशीभरी मजलिस में उनकी कोई जगह न थी। जब चटपटे की चाट होती है, तब बार्लो के पानी से जी मिचलाता ही है। शराब के सुरूर का चिखना कबाब होता है, सागू नहीं। हाँ, दुख के साथी वे ज़रूर थे। किसी दुनियावी दर्द पर मरहम-पट्टी कर सकें—यह कमाल तो उनकी उँगलियों में कभी का नहीं था, न इस कमाल का उनको दावा ही था। मगर जहाँ किसी दिलजले की आह उनकी शांतिप्रियता की आस्तीन में घुस पाती, तो फिर हाथ-पर-हाथ धरे बैठना उनके लिए नामुमकिन था। बीमार का पथ्य सागू ही है, कबाब नहीं। वे और कुछ न कर पाते तो दिल तो छन-भर छू जाते। हमदर्द की उँगलियों के स्पर्श में भी एक इतमीनान की साँस है! तपिश में बित्ते-भर की छाँह भी एक दिलासा है।

मौलवी साहब

सन् ३ या ४ की बात है। भादो का महीना। हमलोग एक दिन शाम को नहर पर टहल रहे थे। हवा गीली डालियों में झिर-झिर डोल रही थी! सर पर बादल का तूमार मँडरा रहा था। नहर के दोनो ओर गढ़ों में बरसाती पानी लबालब था। टहलते पुल पर पहुँचे होंगे कि हठात् बाईं ओर किसी के पैरों की छप्-छप् सुन पड़ी। देखा, मौलवी साहब घुटने तक पाजामा मोड़े, दस-बारह बरस के एक बच्चे को कंधे पर बिठाए, पसीने से तर-ब-तर पूरब की लाट पकड़े जाने कहाँ से हाँफते चले आ रहे हैं। एक हाथ में उनकी छड़ी है, दूसरे में कोई पोटली। मौलवी साहब की खब्तियाँ हम-लोगों से छिपी न थीं, पर बरसाती मंजर में यह एक अजब नज़ारा था। कभी देखा, न सुना। आख़िर मौलवी साहब पाठशाला के शिक्षक थे; आज यह क्या सूझी है उनको?

नज़दीक आए, तो मैंने बढ़कर पूछा—"मौलवी साहब, यह किसे ढोए फिर रहे हैं आप?"

"मत पूछो भाई",—मौलवी साहब ने बच्चे को कंधे से पुल पर उतारते हुए कहा—"अजब मुश्किल में पड़ गया। यह बेचारा किसी के घर का चिराग़ था। मैंने देखा, यह सुनसान में टिमटिमा रहा है। अबतक बुझा नहीं, यही ग़नीमत है!"

फिर एक लंबी साँस लेकर बोले—"भाई, यह एक अनाथ छोकरा है। माँ-बाप सब कूच कर गए। कोई पुरसाँहाल नहीं। मैं एक बीमार छात्र को देखने अलीगंज गया था। वहाँ इसकी बेबसी का हाल देखा। मैंने कहा—'चलो, मैं ही इसे पाल-पोसकर आदमी बना दूँगा।' साथ लेता आया।"

"नाम क्या है इसका?"

"भोला! है भी भोलाभाला।"

"जाति?"

"खुदा जाने, जाति क्या है। बेकस की भी कोई जाति है भाई!"

"फिर भी—"

"अजी, जाने दो। आदमी तो है। जातिवाले तो इसे पूछते नहीं। कोई सरपरस्त होता, तो मैं क्योंकर यह आफ़त मोल लेता?"

भोला एकबारगी घबरा उठा। रोने लगा। नई जगह। नई शक्लें।

"चल, भूख लगी होगी तुझे!"

मौलवी साहब ने उसे फिर उठा लिया और गाँव की ओर मुड़ गए।

मौलवी साहब अपनी दरियादिली में उसे कंधे पर बिठा

बरसाती दरिया तो पार कर आए, पर घर जाकर उनको पता चला कि पार होना तो दरकिनार रहे, वे बीच मझधार में पड़ गए।

आदमी को आदमी से अलग करने के लिए आदमी ने अपनी दानिशमंदी में जितनी दीवारें तैयार की हैं, उनमें से मज़हब की दीवार कुतुबमीनार-सी ऊँची खड़ी है। और तुर्रा यह कि मज़हब का दावा इन तमाम दीवारों को तोड़कर एक करना है। उसके दावे जो हों, हम तो उसके काले कारनामों को देखते हैं। आत्मबुद्धि तो वह पनपा नहीं पाई, भेद-बुद्धि की बुनियाद रख गई। पद्धति की आलमगीरी के सामने सिद्धांत की पाबंदी तो भीगी बिल्ली-सी बन गई। जब धर्म की तमाम दूकानों पर सांप्रदायिकता ही हाथोंहाथ चल निकली तो फिर मनुष्यता की माँग ही कहाँ रही! किसी मुसलमान के घर में हिंदू के एक नादान बच्चे का आश्रय पाना आज एक विकट धर्म-संकट है। जबतक वह अनाश्रित रहा, तबतक तो हमारे धर्म पर आँच न आई; जिए या मरे— बला से; मगर किसी हिंदू के घर पनाह न पाकर एक सहृदय मुसलमान के बधने का पानी पी लिया, तो हमारी नाक कट गई!

मौलवी साहब ने उस बच्चे को अपनी हाँड़ी का भात खिलाया या उसके लिए कहीं अलग हाँड़ी चढ़ाई, मुझे पता

नहीं। मेरे लिए तो पते की बात इस क़दर है कि उसके सूखे हलक़ के नीचे भात उतरा। हाँ, जातिवालों की तलाश ज़रूर रही कि वह भात किस हाँड़ी में पका। उनकी दिल-चस्पी हाँड़ी से थी, आदमी से नहीं।

मौलवी साहब उसे अपने यहाँ रखकर 'रा-म-गा-ति-दे-हु सु-म-ति' के अलावा क़लमा भी पढ़ाते। यह उनके तमाम अतीत और वर्तमान के ठीक उलटी धारा होती। उन्हें उसे महज़ आदमी बनाना था, मुसलमान नहीं। यह बात और है कि मुसलमान भी आदमी ही हैं। राम की कथा की ओट लेकर उनको शिकार खेलना रहता, तो अबतक वे हाथ समेटे बैठे नहीं रहते। आखिर कभी तो मैदान में आते ही!

जो हो, जातिवालों की टोली में बड़ी सनसनी फैल गई। बात कानोंकान बढ़ गई। यारों ने नमक-मिर्च लगाकर उसे और चटपटी बना डाला। बात की बात में एक क़िस्सा खड़ा हो गया। मौलवी साहब ने पहले तो कुछ परवा नहीं की। उन्हें अपनी खुशनीयती का भरोसा था। मगर जब मामला संगीन हो चला, तो साँप के बिल में हाथ देने के नतीजे का पता चला।

जनता जब धर्म की पुकार पर छाती तानती है, तो फिर उस छाती की तह में दिल का पता पाना आसान नहीं।

धर्म भूत बनकर आदमी पर सवार होता है, तो पहले हृदय का खून कर तो विचार पर टूटता है। फिर तो संगदिली का समाँ बँधना कोई आश्चर्य नहीं। धर्म का जोश उठा नहीं कि कोई भी अधर्म आदमी के लिए दुश्वार नहीं।

जब 'महावीर की जय!' की पुकार के साथ सैकड़ों का हुजूम मौलवी साहब के बैठके में पिल पड़ा, तो गाँव में तह-लक़ा मच गया। घर में कुछ माल हाथ न आया, तो मौलवी साहब की दाढ़ी का एक-एक बाल चुन लेने की ठहरी। ख़ैरियत थी, मौलवी साहब घर में मौजूद न थे। वरना सर और दाढ़ी के बाल तक ही धर्म का उबाल सीमित न रहता।

वे तो इस सनसनी पर भी निश्चिंत ही थे। किसी छात्र के घर रामायण की कथा छेड़ अपनी धुन में विभोर थे। वे क्या समझ रहे थे कि राम-कथा की चर्चा उनको अभय-पद दे चुकी है? और वह दे भी देती यदि उनकी दाढ़ी अंतराय न रहती। और दाढ़ी मुड़ाकर अभय-पद पाने के लिए वे तैयार थे नहीं।

ख़ैर, दो-चार हमजोलियों ने मिलकर मामला निबटा दिया।

इसी गाँव में भोला की एक दूर की मौसी निकल आई। मौसी काफ़ी खुशहाल थी। खेती तो थी ही, मिजाज में

दो पैसे की गर्मी भी थी। पंचों ने भोला को उसी के सुपुर्द कर दिया। तय यह हुआ कि मौलवी साहब उससे कोई सरोकार न रखें। आमदरफ़्त-बोलचाल बंद।

मौलवी साहब की दिलशिकनी की कोई बात न थी। न जाने उसके भाग्य की नैया किस घाट जा लगती! यहाँ तो उसे घर ही में आश्रय मिल गया।

पंचों ने उसकी आँखों में उँगलियाँ डाल दिखा दिया कि यह हरिकथा का बाना म्लेच्छ की माया है। भला, जिसके पेट में गाय का गोश्त है, वह कभी हिंदू का दोस्त हो सकता है? भोला ने रुकती ज़बान में प्रतिवाद किया कि मौलवी साहब गाय का गोश्त कौन पूछे खस्सी का गोश्त तक नहीं खाते। पर जब उसकी नादानी की बात पर चारों ओर से जोरों की हँसी पड़ी, तब वह सहमकर चुप हो गया। 'अरे, तू क्या समझेगा? उनके सात पुस्त खा आए! खून तो वही है!'—यह फतवा देकर पंचों ने उसकी तमाम दलीलों की गरदन रेत दी।

मौसी के सर पर जब यह नई बला पंचों ने मढ़ दी तो पहले तो वह मुँह बनाकर गुर्राई। मगर दाव देख चुप हो रही।

भोला तो अपने स्नेह के नीड़ से अलग होते रो पड़ा। पर जब उसकी मौसी ने उसे आँचल के तले खींच लिया

और मौलवी साहब ने—'जा भोला, तेरी मौसी है न'—कह-कर उसे दिलासा दिया, तब उसने दबेपाँव मौसी के घर की ओर रुख़ किया। मौलवी साहब की आँखों में भी पानी भर आया। पर वे दिल मज़बूत कर अपने कर्त्तव्य पर डटे रहे।

मौसी का घर भोला के लिए कोई नई ज़मीन, नया आसमान न हुआ। वरन् यह वही अँधियारी दुनिया थी, जिसमें बचपन की सहज प्रफुल्लता भी दो घड़ी की चाँदनी नहीं होती।

मौसी के दिल का भंडाफोड़ होते देर न लगी। उस करुणा के स्रोत का गोमुख कुछ हृदय न था, मतलबी बुद्धि थी। वह ऐसी ढुलमुल न थी कि मुफ़्त किसी को आँचल पर बिठाए रखती। उसे तो दोनों जून के भात और भुर्ते की क़ीमत कौड़ी-कौड़ी वसूल कर लेनी ज़रूरी थी। बस, पेट पर एक मज़दूर मिल गया। क्या सोहनी, क्या कोड़नी, क्या कटाई, क्या छटाई—कोई भी काम भोला के लिए मुश्किल न समझा गया। उसे कोल्हू के बैल की तरह दिन-रात खटना पड़ा। अगर खट न पाता, तो उसके साथ-साथ मौलवी साहब के भी सात पुश्त तक की मरम्मत धरी रखी थी।

भोला के खालू साहब भी थे। थे तो घर के मालिक, पर मालकिन कान धरकर उठाती, कान धरकर बैठाती;

बस, बीबी के हाथ की डोर के पतंग थे। जब ढील पाते तो आसमान पर उड़ते, वरना सिमटकर उसकी उँगलियों में लिपटे रहते। पैसे रहे, तो भोला को भी घसीटकर ताड़ीखाने की सैर करते; न रहे, तो चुपचाप राम-नाम जपते। शायद उनकी चलती, तो भोला बत्ती का टेम भी न झाड़ता। और सुबह-शाम मौलवी साहब के दरबार में राम-कथा का पीयूष-पान कर मौज करता। मगर बीबी से मैदान लेने को उनकी छाती में दम न था। बेटे और बहुएँ तो भोला को जंजाल समझ नाक-भौं सिकोड़ती रहीं।

भोला का दिल तो मौलवी साहब के क़दमों पर था। वे उसके कोई अपने न थे, फिर भी उनसे बढ़कर उसका कौन अपना था! अभी धर्म की धाँधली उसके दिल की आँखों को काफ़ी चौंधिया न पाती थी। और वह रह-रहकर माथा खुजलाता कि आख़िर मौलवी साहब की मिन्नत से उसके देवी-देवताओं की तौहीनी क्योंकर होती! बेचारा जब अवकाश पाता, उनके बैठके के सामनेवाले नीम के पेड़-तले जा बैठता! घर में क़दम रखना मना था। कोई देख लेता या सुन लेता तो! मौलवी साहब अपने बैठके से उसे कनखियों से देखा करते और वह नीम के तने पर बैठ गीली आँखों की कोर से दिल के टाँके खोलता। उन निगाहों की बेज़बानियों में किस मर्म की कहानी भरी थी, कौन कहे?

अक्सर वह भूखा रहता। जब कभी वह अपनी ड्यूटी से चूक जाता या आठों पहर की खटन से ऊबकर हाथ समेटता, तो धौल-धप्पे से उसकी खबर तो ली ही जाती, साथ-साथ दो मुट्ठी भात के भी लाले पड़ जाते। वह कहे किससे? मौसी के हुक्म की कहीं अपील न थी। मौलवी साहब के पास जाकर हाथ पसारता, तो दोनों की जान आफ़त में पड़ती। फिर भी जब भूख की शिद्दत से कराह उठता, तो दौड़कर उनके बैठके के सामने मन-मारे खड़ा हो जाता। मौलवी साहब उसका भूखा चेहरा देख आंखें बचाकर दो-चार पैसे फेंक देते। बात की नौबत नहीं आती—चूंकि वह हरकत ख़तरे से खाली नहीं थी। भोला पास की दूकान से कुछ चना-चबेना खरीदकर खा लेता और मौसी के घर आकर पड़ रहता।

आख़िर बात फूट ही गई। उसके अँगोछे की खूँट से खँसिया की गंध मौसी के नौनिहाल कल्लू की नाक में पड़ी, तो उसका माथा ठनका। वह था एक ही घाघ। थूथुन फैलाकर सूँघने लगा। एक दिन उसने भोला को जगत कांदू की दूकान से चना लेते देख लिया। माँ से जाकर जड़ दिया। भोला से कैफ़ियत तलब हुई—"पैसे कहाँ से आए?" उसने जब सर हिला-हिलाकर जता दिया कि मौलवी साहब ने नहीं दिया है, तो उसके सर चोरी का इलज़ाम

मढ़ा गया। आख़िर आसमान से पैसे नहीं बरसते! किसी की जेब कतरी होगी या संदूक का कुंडा तोड़ा होगा! बड़ी दुलहिन के मायके की झाँपी से चंद रिज़कारियाँ कभी गुम हो गई थीं। उसने झाँपी का ढक्कन उलट सास को अपनी पतली-सी पूँजी दिखाई। यह भी पता चला कि अक्सर भोला उसकी कोठरी के इर्दगिर्द मँड़राता रहा। नतीजा यह हुआ कि आँगन के एक कोने में मुश्कें देकर जूतियों से उसकी ख़बर ली गई।

दूसरे दिन भोला मौलवी साहब के बैठके के पास फिर मौजूद। चेहरा अब रोया, तब रोया। आँखों के नीचे काले घेरे पड़े हुए। मौलवी साहब के दिल की आँखें उसके दर्द तक पहुँच गईं। वे उठकर सामने आए और हस्बमामूल चंद पैसे नीम के तने पर रखकर मुड़े, तो उनकी निगाह कल्लू पर पड़ी। वह दीवार की ओट में इधर ही आँख गड़ाए खड़ा था। मौलवी साहब की भवें तन गईं। डपटकर बोले—"तुझे सौ बार मना किया, यहाँ मत आया कर! ख़बरदार, अब कभी यहाँ देखा, तो खाल उधेड़ लूँगा। हट यहाँ से!"

भोला को तो काठ मार गया। उसने पैसे नहीं उठाए। उलटे पाँव लौटा। हठात् कल्लू ने उसके कंधे पर हाथ रख अपनी ओर खींचा—"अरे! ये पैसे?"

"हम का जानें!"—भोला फुफकारता हुआ लौट पड़ा। कल्लू ने पैसे उठा लिए और हँसता हुआ पानी में आग लगाने दौड़ पड़ा।

मौलवी साहब पर जो बीती, वह तो कुछ उतनी विकट न थी, चूँकि मौलवी साहब के अधीन भी बच्चों का एक काफ़िला था। तूतू-मैंमैं का बाज़ार गर्म रहा। वे भोला के गले पड़ उसे बिगाड़ रहे हैं! उनकी नीयत भी उनके चेहरे की तरह साफ़ नहीं। वे लाग-लपट न रखते, तो भोला मौसी के घर मज़े में निभ जाता। आख़िर हिंदू के एक अनाथ बच्चे के लिए इतनी सरकंदनी क्यों! उनको क्या पड़ी है? भोला उनका है कौन?

मौलवी साहब क्या कहें कि भोला उनका कौन है! बस, चुप रहे।

उधर बेचारे भोला के सर पर आफ़त का पहाड़ टूट पड़ा। मौसी के घरवाले तो थे ही, जातिवालों ने भी उसकी काफ़ी मरम्मत की। कहीं इस शैतान की वजह सब के मुँह में कालिख न पुते! उस पर कड़ी निगरानी चली।

भोला की इन तमाम बदचलनियों की तह में न जाने कैसे मौलवी साहब का हाथ पाया गया। उनसे कसकर बदला लेने की ठहरी। सामने से वार करने में सैकड़ों आशंकाएँ थीं। दरबार में उनकी पहुँच थी। आख़िर,

यह राय ठहरी कि इस बार जब मौलवी साहब हस्बदस्तूर बस्ती से बाहर किसी शागिर्द के घर जाते हैं, तो आधी रात को उनके तमाम लिबड़ी-बरतन का सफ़ाया कर दिया जाय; गाय भी खोल ली जाय। आख़िर एक मुसलमान के घर से गाय चुरा ले जाना पुण्य का ही काम होगा!

भोला के कान खड़े हो गए। वह तड़पता रहा कि किसी तरह मौलवी साहब को उनके सर पर मँड़राते हुए बादलों की ख़बर कर दे! पर उस पर पहरा इतना कड़ा था कि चौखट के बाहर क़दम रखने की कोई सूरत न थी। आख़िर जब तीसरे दिन सरे-शाम ही से पीपल के तले सहन में झलकूटन की पार्टी बैठी और गाँजे की चिलम का दौर हाथोंहाथ छलाँग भरने लगा, तो मौसी के घर इस ग़ैर-मामूल जशन के आयोजन पर उसे खटका हुआ। बहुओं की कनफुसकियाँ तो थीं ही। चिराग़ जलते-जलते कुतूहली बच्चों को चटपट मट्ठा-भात खिला सुला देने की बंदिशों ने उस तमाम उछल-कूद के कच्चे चिट्ठे खोलकर रख दिए।

भोला ने जब दबी ज़बान से दरियाफ़्त किया कि आज है क्या, तो 'तेरे बाप का सराध है न?' के साथ-साथ उसकी कनपट्टी पर तड़ाक् से एक चपत पड़ी। वह तिलमिलाकर ढेर हो गया। उसे अब समझने को कुछ बाक़ी न रहा। बस, दो कौर खा अपनी टाट पर जा लेटा। जी लगा रहा;

आँखें नहीं लगीं !

रात अँधेरी थी—उसके नसीब की तरह। सरकारी ड्योढ़ी से बारह का गजारा पड़ना था कि झलकूटन का हो-हल्ला कल के काँटे की तरह एकाएक रुक गया। थोड़ी देर खाने-पीने का सिलसिला रहा। चिलम का दौर दुबारा चला। भोला की एक-एक साँस कान बनी थी।

आख़िर पास के खेत की मेड़ों पर दर्जनों पैरों की आहट जब पड़ी तो भोला कुनमुनाया। टट्टी की फाँक से झाँककर देखा, तो कहीं कोई नहीं। शायद उसे नींद में ग़ाफ़िल समझ एकाध जो उसे घेरकर सोते रहे, वे भी लूट की लपट पर चल दिए थे।

भोला धीरे से उठा और इधर-उधर झाँक गली में घुस गया। वह समझ गया कि कल्लू का क़ाफ़िला बीच गाँव से न जाकर बग़ीचे की ओट लेकर जा रहा है। कुत्तों के भूँकने की उसे परवा न थी। वह सरपट दौड़ता जब मौलवी साहब' के दरवाज़े पर आया, तो देखा—दरवाज़े पर ताला लगा है। कोई चिड़िया का पूत नहीं। वह एक छन चकराया। उसे पता न था कि मौलवी साहब घर पर नहीं हैं। अब वह किसे जगाता, किसे ख़बर देता! हठात् उसे ख़्याल हो आया कि चना-चबेना बेचनेवाले के यहाँ पाठशाला में पढ़नेवाले किसी दूर देहात के दो-तीन लड़के डेरा डाले हुए

है। उसने झकझोरकर उन्हें सोते से जगाया और ख़बर की कि मौलवी साहब के घर डाका डालने की तैयारी है!

रिसाले का सालार कल्लू नीम की गाछ के तले पहुँचा, तो वहाँ आदमी की चहल-पहल देख ताड़ गया कि भोला ने भंडाफोड़ कर रखा है। उसके सिपाही तो दीवार की ओट छिपे रह गए, पर उसने और उसके भाई ने आगे बढ़ भोला की गरदन थाम ली और लगे दुहत्था देने। उसकी इस हरकत पर लोग चकराए, तो कल्लू ने भोला के सर पर चट चोरी का यह इलज़ाम मढ़ दिया कि वह भाभी की बाँह का बरहबूटा चुराकर शाम ही से चंपत है। हो-न-हो, उसे मौलवी साहब के घर कहीं गाड़ रखा होगा। बस, यह क़िस्सा खड़ाकर उन दोनों ने उस आधी रात के हंगामे का रुख़ ही पलट दिया। और क़ब्ल इसके कि चकराया हुआ भोला अपनी सफ़ाई पेश कर सके, उसकी गरदन में हाथ डाल ज़बरदस्ती अपने घर की ओर घसीट ले गए। मुहल्लेवालों को क्या पड़ी थी कि ज़बरदस्त का पल्ला न ले वे एक जाने कहाँ के फालतू छोकरे के लिए अपनी चैन की नींद में ख़लल डालते?

मौसी के घर भोला पर जो बीती, उसे भोला ही जानता है या उसका अंतर्यामी। जान हथेली पर रख उसने मौलवी साहब का नमक तो अदा कर दिया, पर जब बबूल

की कँटीली छड़ी की चोटों से मौसी का नमक उसके अंगों से फूट निकला, तो वह पछाड़ खाकर आँगन में ढेर हो गया। आया था बेचारा मौसी के घर भात खाने, बदा था लात खाना। पेट तो भरा नहीं, जिस्म भर उठा। वह भर पाया। एक अनजान मुसलमान की छाँह छोड़ उसने बिरादरी की बाँह पकड़ी। कुल तो रहा, मगर वह डूब गया। जाति तो बची मगर जान नहीं बची।

काश, कोई उसे पानी पिला-पिलाकर मारता, तो कम-से-कम उसका गला तो सूखकर काठ न होता। दाने के साथ-साथ जब पानी भी बंद हो गया, तब उसे एक पल में तीनों लोक नज़र आ गए। यहाँ किसी की आँख में दो बूँद पानी भी नहीं रहा। वह बेपानी की मछली की तरह तड़पकर मरा। इस तरह प्यासे मरने से तो मौत की प्यास भी अच्छी होती!

वह जो किसी ने कहा है न कि 'मरता क्या न करता!' जाने कहाँ का बल आ गया उसमें! ज़ोरों से उचककर एक छलाँग भरी। कमर की रस्सी तड़-से टूट गई। आँगन में बहुएँ थीं। मरदाने किसी चकल्लस में कहीं बाहर थे। मुहल्ले में शोर उठते-उठते भोला यह गया और वह गया। रात के अँधेरे ने उसे अपनी गोद में लेकर उसके जीवन की रक्षा की। कुएँ से निकलकर वह

समुंदर में जा पड़ा।

दूसरे दिन मौलवी साहब दौरे से लौट आए। आते ही स्कूल जाने की तैयारी में लगे। झटपट भात की हाँड़ी चढ़ा दी। एकाध आलू भुर्त्ते के लिए छोड़ दिया।

यह कहना तो भूल ही गया कि मौलवी साहब बराबर मिट्टी की हाँड़ी में ही भात पकाते और वह भी एक ही वक्त। कोई मेहमान ठहरा न रहा तो दिन का भात रात की भी खुराक का काम दे देता। उनकी हाँड़ियाँ और ठिलियाँ भी उनके अँगरखों की तरह एक तबर्रुक की चीज़ रहीं। किसी भारतीय की औसत उम्र से उनकी उम्र कम न रही। वे, उनको बड़े क़रीने से रखते और किसी को कभी छूने न देते। उनके मिट्टी के घड़े भी किसी के पीतल के घड़ों से कहीं साफ़-सुथरे और लंबी उम्रवाले थे। मौलवी साहब तो बूढ़े हो गए, पर उनके घड़े बूढ़े न हुए। न गरदन झुकी, न कभी कोई शिकन पड़ी। उनके घड़े और हाँड़ियों की सिलवर जुब्ली तो ज़रूर हुई। लोग हँसा करें, पर जब देखा तब उनकी हाँड़ियाँ हँसती ही नज़र आईं। वह चमचमाहट कि इस अदा पर कोई मुँह चूम लेता।

मौलवी साहब भात और आलू का भुर्त्ता खाकर स्कूल चल दिए।

लौटते वक्त एक हंगामा था। कल्लू तो था ही, कल्लू के साथी भी थे। मौलवी साहब चक्कर में थे—आख़िर माजरा क्या है? भोला की मौसी भी आँख तरेर रही है। लगे आप-ही-आप कोसने। कहाँ-से-कहाँ इस छोकरे के फेर में पड़ा! चला था दिल डालने, दर्द-सर मोल ले आया। भोला से कोई सरोकार रहा नहीं, पर आज भी गला नहीं छूटता!

किसी ने पुकारकर कहा—"मियाँ साहब! भोला कहाँ है?"

"मैं क्या जानूँ, कहाँ है वह?"

"क्यों? आप ही के पास तो वह कल रात को दुम दबाकर भागा।"

"मेरे पास? हर्गिज़ नहीं। मैं यहाँ था ही कहाँ?"

"आप जहाँ थे, वहीं गया।"

"उसे क्या पता है, मैं कहाँ था!"

"बस, बातें न बनाइए मौलवी साहब! उसे कहाँ छिपा रखा है आपने, यह बतलाइए!"

"खुदा की कसम, मुझे पता नहीं।"

इसी तूतू-मैंमैं में मौलवी साहब का घर आ गया। अंदर घुसते हैं, तो भोला एक केले के पत्ते पर उनकी हाँड़ी से सुबहवाला बासी भात उड़ेल रहा है। उसका चेहरा

उतरा हुआ है। आँखें धसी हुईं और सर के बाल बिखरे हुए। कमर में एक फटी-सी लँगोटी है—बस।

मौलवी साहब के पाँव-तले से ज़मीन निकल गई। वे उसे चुराएँ तो कहाँ चुराएँ! शर्म से लाल हो गए। लाज का दामन थामे क्रोध आया। उनके हाथ की छड़ी छूटकर भोला की पीठ पर तड़ाक् से पड़ी।

"हरामज़ादे! तुझे सौ बार मना किया कि तू मेरे घर मत आया कर। चोर की तरह घुस हाँड़ी से भात टटोलता चलता है। निकल भाग यहाँ से! अब तेरी सूरत भी देखी, तो मारते-मारते तेरी हड्डियाँ तोड़ दूँगा।"

भोला को तो काठ मार गया। उसकी आँखें भर आईं। फिर भी उसने एक छन आँखें उठा मौलवी साहब की आँखों में रखा। गोया—"तुम भी........!"

शायद भोला के जानते इस विश्व-संसार में यही एक निरापद आश्रय था, जहाँ उसका मूर्छित मन अपनापन का नाता जोड़ दो मुट्ठी चावल का भरोसा रखता आया था। अब उसे जानने को बाकी न रहा कि आदमी का दिल रख-कर भी मौलवी साहब विधर्मी हैं। और उस घर की हांड़ी में हाथ डालना साँप के बिल में हाथ डालने से कम नहीं। भूख की शिद्दत से प्राण होठों पर न आते तो वह अपनी तमाम शर्म पी चोर की तरह घुसकर एक तुरुक की हाँड़ी

न टटोलता ! पर वह करे क्या ? जाति रखे या जान ?

उसकी रोती हुई आत्मा पूछने लगी—"आज क्या है जो तुम अपने भोला के दर्द को नहीं टटोल पाते ?"

मौलवी साहब तो आग थे। उधर कल्लू की बाछें खिल रही थीं। उसने पुकारकर कहा—"देख लो भाई, यह साला तुरुक हो गया ! दुनिया हमीं को दोस देती रही। भरसक मौसी का भात नहीं रुचता !"

मौलवी साहब ने जब उसकी पीठ पर छड़ी तोड़ जूते की नोक से कड़ककर ठोकर दी तो वह फफक-फफककर रो पड़ा।

भोला को आज तक किसी ने रोते नहीं देखा था। लात-जूते तो उसके रोज़मर्रे की खुराक थे। मौसी के घर की लात पीठ पर बोलकर रह जाती थी, मौलवी साहब के जूते की नोक छाती में चुभ गई। तो क्या वह स्नेह का सोता भी सूख गया, जिसके किनारे बैठ पेट और छाती की ज्वालाओं से झुलसी हुई उसकी आत्मा छन-भर पनाह पाती रही ?

उसकी आँख के आँसू किसी के दिल तक उतर न पाए। चारों ओर जलते तवे पर छन्न-से सूख गए। मियाँ की हाँडी में हाथ डालने के बाद वह अपना हाथ तो कटा ही चुका था,

उसकी नाक भी सदा के लिए कट गई। फिर क्या था, लात-जूते तो थे ही, छड़ी-छाते भी घमासान बरसे। और वह उसी बौछार में भीगी बिल्ली की तरह न जाने कहाँ भाग चला।

हिंदू के देवताओं ने घर-घर सांस ली। बस्ती से बला दूर हुई।

मगर जब पड़ोसी लड़कों से परसों रात के हंगामे की ख़बर मौलवी साहब के कान तक पहुँची, तो उनका दिल हिल गया। भोला के बदहवास चेहरे और दीवार तड़पकर घर में घुस हांड़ी टटोलने का राज़ खुल पड़ा। लगे हाथ मलने, और गांव-गांव गश्त लगाने। पर भोला का पता न चला—न चला।

बरसों बाद। एक उड़ती ख़बर आई कि वह किरिस्तान हो गया है। पढ़-लिख किसी पादरी स्कूल का शिक्षक है।

मौसी का घर तो चार साल बाद प्लेग के चकोह में पड़ वीरान हो गया। कल्लू भी जाने कहां है!

सुनते हैं, उसकी औरत मैके में मरने के क़बल गोद के बच्चे को किसी तरह भोला के हाथ सौंप गई। भोला ने उसे रख लिया हो तो ताज्जुब नहीं। कल्लू का एहसान वह भूला न होगा। उसकी गरदन में हाथ दे वह उसे निकाल

न देता, तो वह गधे से आदमी हो पाता !

× × ×

मौलवी साहब को जो सदमा पहुंचा, वह दिल की तह में बैठ गया। कभी ज़बान तक उठा नहीं। भोला को वह भूल-से गए—भूलकर भी उसकी चर्चा नहीं छेड़ी। शायद आज की पीढ़ी ने उस दर्दनाक क़िस्से को सुना भी न हो।

मगर हाँ, क्या उनकी ख़ामोशी उनके सदमे की गहराई पर कोई रोशनी नहीं डालती ?

मौलवी साहब दो बेटों के बाप भी थे। बड़ा बेटा आज पचास के उस पार होगा। वह भी पिता की तरह एक छोटे से गाँव में एक अदना-सा गुरू है। उसने बाप की शक्ल तो ज़रूर पाई है, पर बाप का दिल भी पाया है—मुझे पता नहीं। छोटा बेटा आज रहा नहीं। वह रहता तो शायद बाप के नाम को ऊँचा रखता। बाप की आँखों का वह तारा चमका तो था सितारे की तरह, पर आसमान की गर्दिश में डूब गया।

मौलवी साहब लकीर के फकीर न थे। उनका अपना विचार था; अपना आदर्श था। और, उस पर और कोई चले या न चले, वे खुद तो जौ-भर उससे हिलनेवाले न थे। हाँ, इतनी क्षमता उनमें न थी कि औरों पर भी अपनी छाप उखाड़ दें, न लीडरी के कूचे में ही उन्होंने कभी क़दम रखा।

उनका यह बराबर विचार रहा कि मुसलमान को जब हिंदुस्तान में रहना है, तो वह हिंदू बनकर नहीं, तो हिंदुस्तानी बनकर बरते। वह चेहरे पर दाढ़ी रखता है, तो रखे—उसकी खुशी, पर सर पर तुर्की टोपी रखना उसकी हिमाक़त है। आख़िर वह हिंदुस्तानी है, तुर्की नहीं। वह पच्छिम की ओर रुख़ कर सिज़दा करे ज़रूर, पर जब वह पूरब का है तो ज़बान और लिबास पूरबी न रखकर अरब या ईरान की नक़ल पर संवार रखता है तो वह मुसलमान होते हुए भी देसी नहीं विदेसी बना रहा।

कभी-कभी तो वे उबलकर कह बैठते कि आख़िर हमने अपनी शक्ल या लिबास पर तो मज़हब की छाप दे उसे हिंदू या मुसलमान बना ही डाला, अब अगर इस ज़ालिम मज़हब के पंजे से अपनी ज़बान और ईमान को बचाकर नहीं रखते, तो फिर हिंदुस्तान के भीतर ही दीवार खड़ी कर हिंदू के लिए अलग और मुसलमान के लिए अलग घर फोड़ना ज़रूरी होगा। यह हवा तेज़ होती गई और ज़बान का रुख़ भी काबा या काशी की ओर बढ़ता चला गया तो फिर एक दूसरे के सहवास में हिंदू या मुसलमान का दम घुटने लगे तो कोई आश्चर्य नहीं। हिंदू लड़कों को थोड़ी-बहुत फ़ारसी की तालीम ज़रूरी है और मुसलमानों को संस्कृत की। अगर यह मुमकिन न हो, तो कम-से-कम

अपनी ज़बान को तो बहककर संस्कृत और अरबी का जामा न पहनने दिया जाय! वरना हिंदू और मुसलमान के आपस की बोलचाल में भी एक तीसरे दुभाषिए की ज़रूरत पड़ती रहेगी। एक दूसरे की किताब पढ़ आपस की हमदर्दी और क़द्रदानी की तरक्की रहे—ऐसी उम्मीद की तो गुंजाइश ही न रही। काश, पंडितजी की लघुशंका और मौलवी साहब की इस्तंजा अपनी-अपनी टोली में चल गई, तो फिर कोई भलेमानस इस मुल्क की धरती पर पेशाब करने का भी रवादार न होगा।

मकतब और टोलियों में अरबी और संस्कृत की जिस रटंत की पढ़ाई है, उस पर वे बेहद बेज़ार थे। यहां उर्दू और हिंदी की तो चर्चा नहीं। बस, जिसे देखो, संस्कृत या अरबी छांट रहा है। उनकी दलील थी कि हम मुश्किल को आसान करने में इस क़दर डूब जाते हैं कि जो आसान है वह भी एक दिन अनुशीलन की कमी से मुश्किल बन जाता है। और इस तरह मुश्किल ही को आसान करने में जिंदगी खट गई। और जो आसानी से हाथ आ जाता उस पर हाथ गया भी तो तब, जब मुट्ठी में थामने की क़ूवत ही न रही। 'सात समुंदर पार सोना लादने गए और घर की पूँजी भी बहा आए!' संस्कृत या अरबी में वह फर्राटे की तेज़ी तो आती नहीं; और कुछ आई भी,

तो किस काम की ? इधर घर की हिंदी-उर्दू भी गई। मैं भी तो इसी मर्ज़ का शिकार हूँ। हाँ, कुछ लस्टम-पस्टम लिख लेता हूँ—बे-सिर पैर की, मगर यह भी कोई ज़बान है ? वह सुलझी और मँजी नहीं, तो दुनिया के सर चढ़कर बोलेगी क्या ख़ाक ?

मौलवी साहब के पास भाव थे, ज़बान न थी। वे अपनी इस कमी पर ऐंठ कर रह जाते।

मौलवी साहब के ये विचार मौलवी साहब तक ही सीमित रह गए—चूँकि इस विचार को दुनिया के दिल तक उतार दें, यह क्षमता उनकी नसों में न थी। और न कभी किसी पर रंग चढ़ाने की कोशिश की उन्होंने। किसी से कभी खुलते तो थे नहीं; उसके विचार का रुख़ पलट दें—यह कब संभव था ! मगर हाँ, छोटे बच्चे को उन्होंने काफ़ी संस्कृत की तालीम दी और वह मैट्रिक के इम्तहान में संस्कृत लेकर बैठा और पास भी हो गया, पर पास होने की खबर उसे इस शरीर से न मिली। मौलवी साहब की तमन्ना थी कि वह एम० ए० तक संस्कृत पढ़े और किसी कालिज में संस्कृत का प्रोफ़ेसर हो। मगर दिल की बात दिल ही में रह गई। इस सदमे ने बेचारे मौलवी साहब का दिल ही तोड़ दिया।

बेटा उठ गया, उनका हौसला बैठ गया। चिराग़ ही नहीं बुझा, दिल भी बुझ गया। और ज्यों-ज्यों ज़माने का रंग

बदलता गया और हिंदू और मुसलमान नापाक मज़हबी जोश का झंडा ऊँचा कर एक दूसरे से अलग होते रहे, त्यों-त्यों बुढ़ापे ने उन्हें जल्दी-जल्दी तोड़ना शुरू कर दिया।

अक्सर वे कहा करते—"क्यों भाई, भाई-भाई का गला घोंटना किस मज़हब का उसूल है? जब आदमी ने आदमी के साथ आदमीयत का बरताव नहीं रखा, तो फिर मज़हब किस मर्ज़ की दवा है! मुझे तो उस मुसलिम की तलाश है, जो शंख की फूँक में अज़ान की तान पाता है। साथ-साथ मैं उस हिंदू को ढूँढ़ता हूँ जो मस्जिद के दर पर भी माथा टेक अपना सर ऊँचा रखता है। एक दिन था, जब महावीरी दल के अखाड़ियों के बाप-दादे कर्बला के अत्याचार के मर्सियों पर छाती पीटते थे और होली के बिरादराने हुल्लड़ में मौलवी की दाढ़ी गुलेनार रंगी जाती थी। वे आपस के चचे और भाई के रिश्ते ज़बानी न थे—दिली थे। मगर आज—

'मिट गए, अहले कमाल अब कोरे डंडे रह गए
आशियाने हंस में उल्लू के अंडे रह गए।'

यदि रूप की लौ आँखों में न रमी तो वह आँखवाला भी क्या आँख रखता है ? यदि मीठे सुर की फुहियाँ कानों की राह कलेजे तक नहीं उतरी, तो फिर भैंस के आगे बीन बजानेवाला मज़मून आदमी के लिए लागू होना ग़लत नहीं। जब सूरज की किरण चूमने को प्रभात की कलियाँ मुँह खोलती हैं तो हमारे मन की पपड़ियाँ भी अनायास खुल पड़ती हैं। रूप-रस-गंध से लहालोट पृथ्वी किसे नहीं भाती—किसे नहीं सुहाती ?

मगर फूल तो मुस्कुराता नहीं, मुस्कुराता है दिल; चाँदनी तो हँसती नहीं, हँसता है जी। जब यह दिल लहरी है तो विश्व के ज़र्रे-ज़र्रे पर यौवन की लहर है। हमारे मन के मौसम पर फागुन की बयार है या हिम का तुषार, हमारे मन की माधुरी जिस ज़र्रे को चूमती है, उसी में चाशनी घोल देती है।

हमारे हृदय की सरसता सावन की फुहार में रस भरती है। हमारे लहू की बेताबियाँ बादलों में पैठ बिजलियाँ बनकर कौंधती हैं।

मौलवी साहब के भीतर कोई रंगीनी तो थी नहीं जो इस विश्व के आँगन को गुलशन बनाकर सजती। उनपर न सावन की मस्ती छाई, न वे कल्पना के कलापी बनकर थिरके। जवानी की लहर तो उनकी चौगोशिया टोपी की नोक तक न छू पाई। शायद शिव की जटा में उलझी हुई गंगा की तरह उनके जुल्फों की पेचीदगियों में उलझकर रह गई।

वसंत का मलयानिल सालोसाल गुंचों को चटकाकर रह गया। फूलों का मुस्कुराना, कोयल का कूकना या चाँद का निखरना—कोई भी उस काले कंबल पर रंग न चढ़ा पाया। कला के करिश्मे मुँह जोहते रह गए, सुरीले गले के फ़व्वारे चिकने घड़े पर कोई छींटा न रख सके। उनके लिए न तो रस की रंगीनी रही, न चितवन की जादू-नज़री। दुनिया तो कहती है कि जो न रीझा, न रिझाया; हँसा, न हँसाया—उसका शुमार आदमी में नहीं, जानवर में है। जो हो, उनका दिल किसी की आँख के जादू पर भले ही न भीगा हो, किसी आँख के आँसू पर बेलौस नहीं रह सका। उनके दिल में गुलाबी न थी, दिल में दर्द की अनुभूति जरूर थी। यही देन क्या कम है? मैं समझता

हूँ, उनके जी को गुलशन की तलाश होती, तो प्रकृति का अभिसार उनकी सूखी हड्डियों में ताज़गी लाता।

उनके जी में रस की मस्ती नहीं थी, तो एकबारगी पस्ती भी न थी। मस्ती होती, तो पस्ती भी होती। मन की एक ओर गुलशन है, तो दूसरी ओर श्मशान। जहाँ फूल है, वहीं ख़ार भी है। रस की सोती के किनारे बालू की रेती भी है।

मौलवी साहब को हमने निखरकर हँसते नहीं देखा, तो बिलखकर रोते भी नहीं पाया। जो हँसता है, वह रोता भी है। जो रोता है, वह हँसता भी है। उनके मिज़ाज में हँसना था, न रोना। वह अंदाज़ ही अलग है। उन्हें देखकर कोई उनको मनमरा भले ही समझे, पर यह न था कि उन्होंने मन को कुचलकर रखा हो। यों कहिए, वह मन ही निराला था।

एकबार मैंने उनकी बदशौक़ तबीयत की खिल्ली उड़ानी चाही, तो वे हँसकर चुप रहे। पर जब दरबारियों ने मेरा रुख़ देखकर कुछ और आगे बढ़ उनकी मरियल सूरत और तबीयत—दोनों पर बौछार शुरू की, तो आख़िर उनको खुलना ही पड़ा—

"भाई, ग़रीबी और केसर की क्यारी—दोनों एक साथ नहीं चलती। मज़दूर की दुनिया में गुल है, न बुलबुल।

तुम्हीं कहो, फागुन के यौवन पर वह थिरकनेवाला कौन ?
सावन की फुहियाँ रस बरसाती हैं, तो उसका क्या ?"

उनका यह मंतव्य कि कल्पनाओं का रंगीन अभिसार कुछ मज़दूरों के लिए नहीं, पेट-भरों के लिए है—मेरी छेड़खानी पर चपत थी। यह बात और है कि अमारत के कूचे में कितने हैं वैसे कल्पना के विलासी, जिन्हें भाव की विभूति के साथ-साथ रस की अनुभूति भी मिली हो! केसर की क्यारी में कोई लोटपोट भले ही कर ले, पर उसकी तैयारी में सोना नहीं गलता, पसीना ही बहता है।

यह न था कि बाग़ की सैर से वे मुँह मोड़ते थे। शाम के झुटपुटे में वे अक्सर किसी बगीचे में जाकर बैठ जाते और आँखें गड़ा—गड़ाकर बादलों से छनती हुई गुलाबी पीते। भगवान जाने, सांध्य आकाश के तले उस निर्जन प्रांगण में उनकी कौन-सी दिलचस्पी होती! उस अँधेरे में वे क्या देख पाते! उस नीरवता में वे क्या सुन पाते!

एक दिन नहर के किनारेवाले आम के बगीचे में वे यों ही चुप बैठे न जाने क्या देख-सुन रहे थे। हमलोग जो नहर की पटरी से टहलते गुज़रे, तो मौलवी साहब की इस ख़ब्ती पर एक अजब कुतूहल हुआ। मेरा एक साथी था ज़रा ढीठ। वह कूदकर उनके पास पहुँचा और ज़रा व्यंग्य भरे स्वर में पूछ बैठा—

"वल्लाह ! यह किसकी ताक में बैठे हैं आप ?"

"किसी की तो नहीं !"—उन्होंने एक हिचकिचाहट के सुर में कहा।

"तो फिर यह एकटक देख किसे रहे हैं आप ?"

मौलवी साहब एक छन जाने क्या सोचते रहे। बोले—

"भाई,—'ढूँढ़ती हैं जिसे मेरी आँखें,

वह तमाशा नज़र नहीं आता।' "

"आख़िर वह है कौन ?"

"है तो वह सब कुछ ! पर हाँ, नहीं पता पाता हूँ तो कुछ नहीं !"

"अजी, रहने भी दीजिए ! इधर आइए, कुछ दुनिया की सैर करा लाऊँ !"

मौलवी साहब ने मुस्कुराकर मजबूरी बताई—"स्कूल से छुट्टी कहाँ है !"

"अरे भाई, इस स्कूली दुनिया के बाहर भी तो कुछ है! आख़िर तमाम उम्र पापड़ ही बेलने में गई, तो फिर सांस रखने से फ़ायदा ?"

"मगर पापड़ ही बेलकर किसी को चैन है तो वह पापड़ ही इस ज़माने में ग़नीमत है। देखिए न, इस जीवन में यदि चैन ही न मिली तो फिर वह जीवन क्या ?"

"वाह, वही तो जीवन है! चैन की शांति तो उसकी समाधि है!"

"तो आप तूफ़ानी कशमकश ढूँढ़ते हैं?"

"और क्या! कुछ रोना, कुछ गाना, अरमानों की मचलें, हौसलों की बुलंदी। आख़िर जिंदगी के मज़े...."

"बस, रखिए भी! मेरा यह कूचा नहीं है।"

"सो क्यों? आपके भीतर भी तो कोई चुलबुला सा दिल होगा?"

"जी नहीं, मेरे दिल का तकाज़ा कुछ और है। आख़िर आप समझें, हमारी यह तड़प कैसी है। दिल में एक हलका-सा ख्याल उठा—चट कल्पनाओं ने चारों ओर से दौड़ रंग के छींटे दे-देकर उसे रंगीन कर डाला। दिल इस दिलफरेब तसवीर पर लट्टू हो गया। समझ ने रास्ता रोक कोई दूसरा रुख़ पेश किया, तो मुड़कर देखा तक नहीं। बस, वह ललककर जामे से बाहर आ गया और दो क़दम बढ़ लज्जत के लासे में फँस गया। आख़िर हम जिंदगी के दुटपुँजिए मज़े लूटने में जिंदगी के जौहर से महरूम रह गए। वह रस क्या जो कुछ दिनों में फीका हो गया! कहीं मन इन अरमानों के दामन को छोड़ पाता तो उस सनातन जोबन का रस लूटता। पर हमें नसीब कहाँ? काश, हम अपने सूक्ष्म को उसके चरण पर रख पाते और स्थूल को

संसार पर! सौ धन का एक धन यह मन का साधन है। मगर आज अरमानों के इस हुजूम में यह मनन कभी मुमकिन है? गर्चे मन की सीपी में जो मोती है, उसका जोड़ा इस दुनिया के बाज़ार में कभी मिलने को नहीं।"

"तो आप मन की तह में डूब उस अनमोल मोती की तलाश में हैं?"

"अजी, डूब कहाँ पाता हूँ! किनारे बैठा लहरें गिनता हूँ।"

अव्वल तो मौलवी साहब को किसी दिल्लगी की फ़ुरसत ही न थी। कामकाजू आदमी थे—क्या स्कूल, क्या डेरा! ताँगे के टट्टू की कैफ़ियत! सुबह ही कुछ रूखा-सूखा गले में डाल जुटे, तो शाम हो गई; वही स्कूल का कमरा, वही हिसाबँ का सवाल, वही हिंदी की रीडर, वही लड़कों का कलरव, वही डाँट-डपट, वही मग्ज़पच्ची—क्या जाड़ा, क्या तपिश, क्या बरसात! सर खपाकर जब घर लौटे और हाथ-मुँह धो ठंढे भी न हो पाए कि दो-चार लड़के कहाँ से आ टपके और लगे अपनी मुश्किलें हल कराने! उनके लब पर तो इनकार किसी हालत में न था। कभी कुछ रामायण की चर्चा चली तो चली वरना स्कूल की कापियाँ देखने बैठे तो रात ढल गई। उम्र भी साथ-साथ ढलती रही और जिंदगी का पैमाना भी भरता रहा।

हाँ, जब फुरसत रही तो बच्चों को तालाब पर ले गए। खुद तो तैरते ही रहे, बच्चों को भी सिखाते। जाड़े के दिनों में खेतों के मथारे चने और मटर की फलियों को लेकर कभी कोई पिकनिक पार्टी रही।

छुट्टियों में लड़कों के घर-घर उनकी मटरगश्ती चलती। घर तो वे कभी छठे-छमासे ही जाते होंगे। सूर्यपुरा रहे या इर्द-गिर्द घूमते रहे। बच्चों के सुख-दुख में उनकी इतनी दिलचस्पी थी कि झोली में दवा और दुआ लिए उनके घर-घर चक्कर काट आते।

बस, उठती जवानी से सर खपाने का जो दौर चला, वह साठ के उस पार तक बराबर चलता रहा। साथ-साथ एक छोटा-सा गाँव का वह लोअर स्कूल एक-एक सीढ़ी उठता हुआ सन् १६२० में हाई स्कूल का गौरव पा गया। खपरैल की मड़ैया एक आलीशान इमारत के रूप में पलट गई। छः रुपए की तनख्वाह से चींटी की चाल तरक्की करते मौलवी साहब तीस पर आ गए। और इसी तीस पर बरसों रह गए। पद या तनख्वाह की तरक्की के लिए दौड़-धूप कभी बन न पड़ी। मन में आशाओं की अट्टालिका नहीं खड़ी की, न अरमानों की गुलकारी। कभी किसी ने कुछ कहा भी तो हँसकर टाल दिया कि अरे भाई! आदमी की आशाएँ जितनी बड़ी हैं, काश, उसकी आधी भी उसे शक्ति

मिली रहती ! देखो न, हमारे सपने कितने सुनहले हैं और यथार्थ कितना फीका। किसी ने प्रतिवाद किया कि आप नाहक़ दिल हार बैठे हैं, तो बस, वही बँधा हुआ जवाब कि हम लाट तो कुछ होने को नहीं।

आख़िर जब काली शक्ल पर सिन की सुफ़ेदी फिर गई और आँख की रोशनी जवाब देने लगी तो उनकी आँखें खुलीं कि स्कूल का यह चरखा तो बराबर चलता ही रहेगा—कोई भी मास्टर हो, पर उनकी ज़िंदगी के चरखे की एक सीमा नियत है और वह उसके पड़ोस में आ चुके हैं।

उनको नज़र आने लगा कि जिस शिक्षालय को उन्होंने अपना घर समझ रखा है, वह भी घर ही की तरह मुसाफ़िर की सराय ही है और अब पीठ पर बोकचा बाँध कूच करने के दिन क़रीब आए।

स्कूल से अलग होते वक्त उनको कुछ वैसी ही तकलीफ़ हुई जैसी कि आदमी को इस कलेवर से अलग होते वक्त होती होगी। जिस कण को छाती के रक्त से सींच-सींचकर खड़ा किया, ममता की गोदी में पाल सयाना किया, उस पर अपनापन का दावा न रहा—यह कोई साधारण तड़प नहीं है। जिन आँखों में कभी आँसू भरते न थे, वे बरसाती आसमान-सी बरस पड़ीं।

हमारे स्कूल में किसी मास्टर को पेंशन देने का इंतजाम नहीं है। कितने आए और कितने गए। पर मौलवी साहब तो स्कूल के विधाता ही नहीं थे, पिता भी थे। अब उनके बुढ़ापे का बोझ सँभालने में कंधा देना उसका फर्ज़ था। इसी लिहाज़ से उसने दस रुपए माहवार की पेंशन बाँध दी। वह इतना भी न करता, तो अपना ही मुँह काला करता। मौलवी साहब को तो जितने साल और जीने थे उतने साल काट ही लेते।

स्कूल तो छूटा, पर स्कूल का साया न छूटा। यह है, तो सब कुछ है; यह नहीं, तो कुछ नहीं। लड़कों से न उनका गला छूटा, न स्कूल से दिल। बस, इधर-उधर घूम-फिरकर इसी अड्डे पर वापस चले आते। घर भी जाते तो जी नहीं लगता। आख़िर लगता भी कैसे?—'उम्र सारी इसी भट्ठी पर गुज़ारी साक़ी।' इस जवार में शायद ही ऐसा कोई खुशहाल हिंदू का घर होगा, जिसकी तीन नहीं तो दो पीढ़ियों की पीठ पर मौलवी साहब के हाथ की छड़ी या उनकी शाबाशी की थपथपी न पड़ी हो! और मुझे इस युग में कोई ऐसा बिरला ही मास्टर मिला, जो स्कूल की ड्यूटी की चहारदीवारी के बाहर अपने छात्रों के जीवन के सुख-दुख पर हृदय का एक कोना बराबर खुला रखता हो और उनके स्वास्थ्य और चरित्र के सुधार पर बराबर उसकी एक आँख रहती हो।

शिक्षक तो वे कोई मार्के के न थे, न उस कला के कोई प्रवीण पारखी थे। बस, जो बावत थी, वह उनकी दर्दशारीकी थी—कुछ पांडित्य की रोशनी या बुद्धि की बारीकी नहीं।

टूटे-फूटे फाटक के एक कोने में बराबर उनका डेरा रहा। बरसात के थपेड़ों ने जब उसकी आँतें निकाल डालीं, तो मौलवी साहब वहीं सहन में बाँस के डंडों का एक मचान बाँध उसी पर बैठने और सोने लगे। ऊख के पत्तों से छा लिया—धूप और पानी से बचाव के लिए। और उस ठिंगने मचान के दोनों बाजू पर दीवाली की रात दो दीये रख वे दाढ़ी पर हाथ फेर फरमाते—'अपनी कुटिया महल बराबर!'

Nainital
Municipal Public Library
Nainital

जो बढ़-चढ़कर बोलता है, दुनिया में उसी की तूती बोलती है। जिसे नाम का शौक़ है, वह ज़बान का रियाज़ करे। वह कोई और काम न भी करे, तो कुछ परवा नहीं। ज़बान से भी रोटी पैदा होती है और वह रोग़नी भी है और मोटी भी। कितने तो बत्ती की टेम भी नहीं झाड़ पाते, पर लेक्चर झाड़ लेते हैं। और इसी झाड़ने पर उनकी महफ़िल में झाड़ है और फ़ानूस।

हाँ, सब के लिए यह कूचा नहीं है। यह तो ठहरा लीडरों का कूचा। नेता होने के लिए वक्ता होना ज़रूरी है।

यह कोई ज़रूरी नहीं है कि जो कुछ पढ़ या लिख लेता है, वह बोल भी ले। पर जनता तो इसे समझती नहीं। बस, किसी साहित्यिक सभा की योजना हुई और वह सिर हो गई—"आइए, कुछ कहिए—कोई फ़रमाइशी बोल सुनाइए।"

कौन कहे, "भाई! मेरा बोलबाला नहीं है। आपने इसे भी क्या तबले पर बोल उठाना समझ रखा है! लिखना और है, बोलना और!"

पर यहाँ सुनता कौन है! वह न जाय तो यह फबती कि दिमाग़ है। जाय तो दिमाग़ का अर्क निचोड़-निचोड़कर गला फाड़ ज़बान से उतारे! दुनिया को तो उसे खड़ाकर तमाशा खड़ा करना है और उसके लिए यह दिमाग़ और गले की कसरत ही नहीं, उसकी मरम्मत भी है। दूसरों के कान के परदे फाड़ने के पहले उसे अपना गला फाड़ना है। किसी को कब पता है कि उसके लिए मंच की चौकी पर खड़ा होना सूली की तख्ती पर खड़ा होना है। हजारों आँखों और कानों के तमंचे जब तनते हैं, तो कहने को क्या और वह कह बैठता है क्या!

संभव है, जो कुछ वह लिखता है, उसी को सरेबाज़ार रखते उसे लगता है कि वह अपनी करतूत की टोकरी को सर पर रख गली-गली 'दही-दही' करता फिरता है और लोग उसे खट्टा कह-कहकर मुँह बिचका रहे हैं। उसके मित्र उसे दिलासा देने से बाज़ नहीं आते कि मीठे को खट्टा कहने वाले—'अंगूर खट्टा है' वाले मज़मून के नमूने हैं, मगर उसके साथ तो शायद अपने दिल की बातों को कलम की नोक से परदाफ़ाश कर दुनिया के सामने दस की थोथी वाह—

वाही के लिए पेश ही करना शर्म से पानी-पानी हो जाना है। यही बहुत है कि वह जब-तब इस शर्म को जी-जाँतकर पी पाता है। अब फ़रमाइशी बोलियों की डालियों की तलबी चली, तो फिर मौत भी शायद उसकी निगाह में महँगी नहीं जँचेगी।

मौलवी साहब को तो बोलने के लिए कहना उनके कंधों से सर उतारकर नज़र करने को कहना था। मेरी अपनी परेशानी उनकी परेशानी का पता देती है।

हाँ, उनका पेशा ही था बोलना। जिसे मुँह में ज़बान रखनी है, उसके लिए तो स्कूल की मास्टरी नहीं बनी। खुश-बयानी उसकी रोटी है। पढ़ाने के वक़्त भी वह ज़रूरत से ज़्यादा कभी कहते नहीं थे। पढ़ाने के बाद गोया होंठ सी-कर रखते।

जब कभी स्कूल में छात्रों की कोई बैठक होती, तो आप दूर ही खड़े रहते—बैठते नहीं। मुझे याद है, एक बार कुछ कहने के लिए उनके साथियों ने ठेलकर उनको खड़ा कर दिया। वे एक छन खड़े लोगों के मुँह देखते रहे, फिर माथा खुजलाकर बड़ी नर्मी से—'भाई, मैं बोलता नहीं हूँ'—कह-कर बैठ गए !

यारों ने चुटकी ली—"यह कैसे होगा ? आख़िर कुछ भी तो कहिए !"

"क्या कहूँ ? तुम्हीं कहो।"

दुबारा शोर हुआ—"नहीं-नहीं, कुछ कहना ही पड़ेगा !"
"तो सुनो—

'कह रही है शोर दरिया से समुंदर की सकूत,
जिसका जितना ज़र्फ़ है उतना ही वह ख़ामोश है ।' "

अब मौलवी साहब की चंद ख़ब्तियाँ भी सुनिए। किफ़ायतशारी के नमूने उनके पाजामे और अँगरखे ही नहीं थे, लंबी उम्रवाले उनके मिट्टी के मटके और घड़े भी थे। पर हाँ, यह किफ़ायतशारी कुछ मक्खीचूस की तंगदस्ती न थी, चूँ कि तनख्वाह का एक बँधा हिस्सा वे बराबर ग़रीबों की नज़र रखते। इस उसूल से कभी वे डिगे नहीं। किसी को कभी कुछ कर्ज़ भी देना पड़ा तो उससे सूद न लेते।

खाने और पीने के मद में तो वे एक अजब परहेज़गार थे। खिचड़ी और बैंगन का भुर्ता खाकर ही जब ज़बान की मुराद पूरी हो गई, तो फिर पुलाव और क़ोरमे किस मर्ज की दवा होते? लक्ष्य तो पेट के भरने के साथ-साथ जी का भरना भी है। पर जिस जी को किसी नफ़ासत की तलाश

ही नहीं है, उसकी निगाह में जाफ़रानी न्यामतें भी कुछ ख़ास बाबत नहीं रखतीं। हाँ, छात्रों के घर से कभी-कभी चूरा और मट्ठा, चने और सरसों का साग, हरी मटर की फलियाँ टपक ही पड़तीं और रुचि के मोरचे बदलने के लिए ये सामान काफी थे।

उनकी इस बदशौकी पर कोई छेड़ बैठता तो हँसकर कहते—"भाई, देखो ना, रूखा-सूखा ही खाकर आदमी की सेहत अच्छी रहती है। मैं मजदूर हूँ, मुझे अमारत के काँटों में न घसीटो। याद रखो, अगर तुम खाने का शौक़ रखते हो, तो डाक्टरों के लिए फीस भी रखो। तुम्हारा यह शौक न होता तो, आज हकीमों की गर्मबाजारी भी नहीं होती। आजकल जितने होटल खुलते हैं, उतनी डिसपेंसरियाँ खुलनी भी जरूरी हो जाती हैं।"

कभी तो आप फरमाते—"भाई, जब हमारे इर्द-गिर्द कितने बेकस एक जून की रोटी भी नहीं जुगा पाते तो मेरा दोनों जून पेट भरना भी सरासर जुल्म ही में दाख़िल है। यही मेरे सर पर शर्म के लिए काफ़ी है। इस पर भी मैं घी के मालपुए पर हाथ साफ करूँ तो इस जुल्म की कोई हद होगी? आख़िर हम अपनी फिजूलख़र्चियों की कतर-ब्योंत करके उसे लोगों में बाँट दें तो इस संसार के कितने प्राणियों की जिंदगी बच जाय। मगर हम अपनी आदतों की गुत्थियों में इतने

गिरफ़् हैं कि दुनिया की आह बटोर-बटोर हम एक अकेला चोला—अपना जी—भरते हैं और आख़िर भर भी नहीं पाते।"

काश कभी कोई यह पूछ बैठता कि आप जिस त्याग के आदर्श को अपना रहे हैं, उसकी तालीम औरों को भी देते तो मौलवी साहब एक मीठी हँसी हँसकर कहते—"भाई, मैं जैसा बनना चाहता हूँ वैसा कभी बन पाता हूँ? तुम्हीं कहो, खुद तो बना नहीं, दूसरों को बनाने बैठ जाऊँ? हम जो कुछ सोचते हैं, जो कुछ कहते हैं या जो कुछ करते हैं, उस पैमाने पर कभी हो भी पाते हैं? बस, बनते हैं, कभी होते नहीं।"

मौलवी साहब की एक बड़ी ख़ब्ती थी—यात्रा पूछकर चलना। सनीचर को पूरब जाना उनके लिए मौत के घर जाना था! कभी जाना ही पड़ा तो आधी जान लेकर गए। सुनता हूँ, जमाना हुआ—वे सनीचर के दिन इक्के पर सवार पटने की गाड़ी पकड़ने स्टेशन जा रहे थे। किसी ने टोककर कहा—"यह दिशाशूल में कहाँ चले, मौलवी साहब?" मौलवी साहब को जाना था, रुके नहीं; पर थोड़ी दूर गए न होंगे कि घोड़ा एकाएक भड़का और इक्के को उनके सर पर उलटकर रख दिया। बड़ी सख्त चोट आई। महीनों खाट सेते रहे। उस दिन से वे यात्रा के पक्के हिमायती बन बैठे। कोई कुछ कहे या खिल्ली उड़ाए, वे टस-से-मस नहीं होते।

यही नहीं, ज्योतिष की इन छोटी-मोटी बारीकियों को खुद हल कर गए। रामायण की चौपाइयों पर सगुन निकालते। अनपढ़ देहातियों के लिए जंतर रखते; जुलाहे और धुनियों के लिए तावीज़। अगर जोखू चमार ने आकर कहा—'मौलवी साहब, बहू को पेट में खोंचा है, उसके बाप के घर का भूत है' तो उस भूत को भगाने के लिए आप कोई नुस्ख़ा तजबीज़ करते। उनकी दलील थी कि भूत सच है या झूठ, भगवान जाने; मगर यह तो सच है कि देहातियों के दिमाग़ में भूत का डर बराबर है और जब तक इस डर को रफ़ा करने की कोई ऐसी तदबीर न होगी, जिस पर उनका जी भरे तो फिर हकीम की दवा किस मर्ज़ की दवा होगी ?

काश कोई पूछ बैठता कि 'आप उस झूठे डर को क्यों नहीं हटाते', तो आप कहते कि वह मेरे बस की बात नहीं। जिस आबोहवा में वह पल आया है, उसका सिक्का उस पर जम चुका है। तालीम की रोशनी उसे मिली नहीं। अब उसके सामने आत्मज्ञान के मसले रखें, तो वह और भी उलझ पड़ेगा। आख़िर हाथी का हौदा गधे की पीठ पर नहीं बँधता। बच्चा रोता है, तो हम उसे फुसलाते हैं। सयाना रोता है तो उसे भी हम फुसलाते ही हैं। फुसलाने के तरीके बदलते हैं—फुसलाना नहीं

बदलता; चूँकि रोता वही है, जिसे काफ़ी समझ नहीं है। जो समझदार है, वह तो न रोता है, न हँसता है। जो तह तक पहुँच सका है, उसके लिए रोना क्या, हँसना क्या? मगर तह तक पहुँचता ही कौन है? बस, कोई दो क़दम आगे है, कोई दो क़दम पीछे। क्या सच है, क्या झूठ—किसी को कभी पता भी लगा है भाई?"

मुझे उनका सफ़ीना भी देखने को मिला है। सफ़ीना क्या है—चों-चों का मुरब्बा है! उसमें उनके जीवन की कितनी बातें हैं और साथ-साथ कुछ और चीज़ें भी हैं—कब वे पहले-पहल हमारे यहाँ आए—कब अपर स्कूल के शिक्षक नियुक्त हुए—कैसे वह स्कूल तरक्की करता हुआ हाई स्कूल के दर्जे तक पहुँचा—स्कूल के मास्टरों की चर्चा—सैकड़ों अपने पढ़ाए छात्रों के नाम और पते की पूरी तफ़सील—कब अस्पताल की नींव पड़ी—कुछ क़ुरान शरीफ़ की बातें—१९१७ वाले हिंदू-मुसलिम दंगे पर एक निष्पक्ष दृष्टिपात और साथ-साथ जाने कहाँ के लौटू और हरहोरा लोहार के कुर्सीनामे—कोइरियों का कुछ ब्योरा—और कुछ दुआ-तावीज भी। एकाध बानगी हम दिए देते हैं—

"सन् १८६१ ई० में हम सूर्यपुरा आए थे। बैसाख का महीना था। यहाँ से बैलगाड़ी पर डुमराँव जाते वक्त धूप ऐसी तेज़ थी कि देह लहर उठी। दस्त होने

लगे। बड़ी तकलीफ़ हुई। आख़िर दिनभर में चार-पाँच बार शरबत गुलशकरी डालकर पीते थे, तब दो-तीन दिन में तबीयत अच्छी हुई। धूप से बचकर रहना चाहिए।"

× × ×

"सूर्यपुरा के लोग बातचीत करने में बड़े चतुर हैं। रियासत होने के कारण अगर चतुरता से बातचीत न करें तो गुजर नहीं है!"

× × ×

"यहाँ हमारा मोदी फौजदार कमकर, धोबी रामचूरन, हजाम राजपति है।"

× × ×

"एक दफ़ा हम और हमारे बाप उचेहुंआ जौ लेने गए थे। ४ मन की गठरी थी। हम कहते थे कि ले चलेंगे। बाप मना करते थे। हमने नहीं माना। जब गठरी सिर पर ली, तो देह थरथरा उठी। सितरी छूट गई। यहाँ तक कि थोड़ा-सा बोझ भी न ले आ सके। औकात के बाहर काम नहीं करना चाहिए।"

एक और मज़े की बात उसमें—गर्चे यह कहाँ तक निष्पक्ष दृष्टि है, पता नहीं—

"मुसलमानों की बनिस्बत हिंदुओं में ज्यादे धर्मात्मा होते हैं। मगर हाँ, यह किसी जात पर मुनहसर नहीं। हमें हिंदुओं से ज्यादा साथ रहा है, उनमें नेकवख़्त बहुत मिले, बुरे कम !"

मुझे उनकी लिखी एक किताब भी देखने को मिली है—'नवीन ज्ञानसागर'। उसे देखने से पता चलता है, जैसे वह ख़ासकर हिंदू बच्चों के लिए लिखी गई हो। किताब है तो बहुत छोटी, मगर जैसे भानमती की पिटारी ही है। कुछ नीति और शिक्षा की बातें हैं—कुछ पुराने ढाँचे की कहानियाँ—कुछ स्वास्थ्य के लटके—कुछ घरेलू नुस्ख़े—दुनिया की कुछ मशहूर बातें और साथ-साथ हिंदू धर्म की कुछ मुख्य चीज़ें—यहाँ तक कि जंनेऊ में गिरह देने के वक़् के मंत्र भी! एकाध चीज़ें बतौर नमूने के देखिए—

"बहुत से लोग घर का रुपया चोरी से दूसरे को रखने के लिए देते हैं, वह माँगने पर नहीं देता। इससे अच्छा है कि घर ही के लोगों को दें। यदि वे माँगने पर न भी दें, तो घर ही में रह जाता है।"

"बहुत से लोग जलपान के लिए हाट से नमकीन या दाना मँगाते हैं। यदि यह घर में बनवा लें, तो अधिक व्यय न होगा!"

"घोड़े पर चढ़कर किसी गली में घूमकर जाना हो, तो वहाँ घोड़ा रोककर फेरे, शायद उधर से कोई आता हो।"

"भोजन करने के पीछे हाथ धोकर उसी भींगे हाथ से दोनों आँख पोंछ दे, तब आँख में कोई रोग नहीं होता है।"

"पंच महायज्ञ हैं—१ वेदपाठ, २ तर्पण, ३ होम, ४ बलिवैश्वदेव, ५ अतिथि-सत्कार।"

"दक्षिण अमेरिका में पुरभुज नाम के कीड़े को दो टुकड़े कर दें, तो जिसमें माथ रहता है, उसमें पूँछ और जिसमें पूँछ रहती है, उसमें माथ जम जाता है!"

"आश्चर्य की बात है कि जौनेरा (मकई) के बाल में दस, ग्यारह, बारह पाँती होती हैं, फिर चौदह, पंद्रह, सोलह आदि पाँति होती हैं, परंतु तेरह पाँती का बाल कभी नहीं होता। कैसी ईश्वर की करतूत है!"

× × × ×

पिछले साल की बरसात का ज़िक्र है। एकाएक उनसे मेरी भेंट हो गई। मुद्दत पर उनको देखा। देखा, बुढ़ापे की सुफ़ैदी सर के ज़र्रे-ज़र्रे पर धोई चाँदनी-सी छा गई है। चेहरे पर पीली-सी झुर्रियाँ भाऊ की झाड़ियों की तरह उग आई हैं। हाँ, आँखों में वह शर्म और मुरौवत की चितवन ज्यों-की-त्यों बनी है। पेशानी पर वह भोलापन भी है। मैंने हँसकर पूछा—"आप यहाँ कब से खड़े हैं?"

"बस, थोड़ी देर हुई होगी।"

मैं समझ गया, घंटों से फाटक पर खड़े हैं! दरियाफ्त करने पर पता चला कि दो दिन से घंटों इस पनसेने के पेड़ के नीचे आकर खड़े होते हैं। दबी ज़बान से इत्तला भी दी, मगर किसी ने रहम खाकर मेरे कानों तक आवाज़ नहीं पहुँचाई।

मुझे बड़ी शर्म हुई। उन्हें अंदर ले गया। माफ़ी माँगनी चाही, तो मुँह से बात छीन ली—"हुज़ूर! यह कर क्या रहे हैं? इसी ड्योढ़ी पर पल आया। मैं क्या जानता नहीं हूँ?"

"आप न जानते हैं, दुनिया तो नहीं जानती! भरसक हमारी किरकिरी होती है! बड़े लोगों के दर पर दो मुट्ठी खाने को मिले या न मिले—झिड़की खाने को तो हाथोहाथ मिल जाती है।"

"यह भी ग़नीमत है हुज़ूर! कितनों के दर पर तो ठोकरें भी खानी पड़ती हैं।"

"सच? यह भी तजरबा है आपको?"

"कितनी बार! ख़ासकर हाकिमों के घर। छोटा जब उचककर किसी ऊँचे पद पर जा बैठता है, तो वह चुप नहीं बैठता—बैठे-बैठे पैर फेंकता रहता है। उसके पैर तो ज़मीन छूते ही नहीं। और गरदन में हाथ खाकर भी हम

साहबों के सामने हाथ जोड़ने से बाज़ नहीं आते।"

"मगर गरदन में हाथ देनेवालों में आपके भाई भी हैं।"

"जी हाँ हुज़ूर! यही न गुलामी का जहन्नम है! आख़िर गिरता कौन नहीं? पैर रपटकर गिरा भी, तो फिर दामन झाड़कर उठ पड़ा। पर हम जो गिरे हैं, तो गिरकर घूरे पर लोट रहे हैं।"

"ख़ैर, कहिए, आप कैसे हैं?"

"वही हूँ हुज़ूर, मगर यह शरीर अब वह नहीं है।"

"सो क्यों?"

"मेरा साथ देना नहीं चाहता—इस्तीफ़ा दे रहा है। बस, टाल-टूलकर लिए जा रहा हूँ; आख़िर कबतक यह चलेगा?"

"वह थका। उससे आप काम लेना बंद करें। बैठे-बैठे खाने को दें।"

"पेंशन देने पर तो मैं तैयार हूँ, मगर इससे क्या होगा? जब तक मुझसे कंट्राक्ट है, वह लस्टम-पस्टम साथ देगा ही। मियाद पूरी होने पर तो........"

"मियाद का तो किसी को पता नहीं।"

"वह पता देने लगा है हुज़ूर! यह बात और है कि कोई उस आवाज़ को न पहचाने या सुनकर भी भूला रहे।

मैं तो समझता हूँ कि अब वह ख़ाक लपेटकर तनहाई ढूँढ़ता है।"

और, हुआ भी वही। दो महीने बाद मैंने सुना कि वे एकाएक उठ गए!

जब यह ख़बर आई, तो कहीं पर न सनसनी छाई, न किसी की आँखें तर हुईं। गाँव में न शोक-सभा बैठी, न लड़कों को आधे दिन की भी छुट्टी मिली। अधिकारियों ने शायद समझा—चलो, पेंशन देने से नज़ात मिली! बस, यही चर्चा रही—'आख़िर पका आम था—चू गया।' एक फ़रिश्ता-सूरत मुसलमान सज्जन ने बड़े ताव से कहा—"माज़ल्ला! वह भी कोई आदमी था! मियाँ की मुर्गी हिंदुआनी बोल! साफ़ मुसलमान, न हिंदू! खुदा उसकी रूह को पनाह दे!" और तो और, मंदिर के पुजारी जनेऊ फटकारकर अपनी टोली में बोले—"अरे भाई, डूबकर पानी पीता रहा। अच्छा हुआ—गया। कितने हिंदू के बच्चों को बधने का पानी पिला-पिलाकर भ्रष्ट कर रखा था।" शायद पुजारीजी को यह पता न था कि मौलवी साहब के पास कभी बधना था ही नहीं—पानी पीने का लोटा रहा! वह तो भगवान भला करे गाँव के उस बूढ़े लाला का, जिसकी ज़बान पर दो मीठे शब्द, चाहे जहाँ से आए हों, उठ तो आए—"मगर पंडितजी, था तो भला आदमी—सिड़ी जो हो। कभी

किसी का कुछ बिगाड़ा नहीं, न इस्लाम का झंडा ही खड़ा किया।"

"यह सुनो! मजाल थी! दाढ़ी के बाल बच पाते! यहाँ पर कभी किसी मुल्ले की दाल गलने पाई है? यह कहो, आदमी खरा था—ऊधो का देना न माधो का लेना।"

"कुछ भी कहो, मुझे उसका चेहरा नहीं भूलता। कहीं आदमी की शक्ल भी ऐसी लंगूरी होती है!"

बस, बात सीरत से उचककर सूरत पर चली गई। यारों ने उसे रुई के गाले की तरह तूम डाला!

यही दुनिया है न—हमारी आपकी! किस ग़रीब की रही है यह बेहया या कब किसी की रहेगी? जीते-जी जब यह किसी की नहीं होती तो मरने पर किसी की पीठ पर हाथ देगी—और वह भी स्कूल के एक अदने मास्टर की! हाँ, उसके बग़ैर किसी की मज़ेदारी में कमी आती तो बात और थी!

वही गाँव का खिखनाफ़रोश कन्हैया मरा तो घर-घर मातम छा गया। भुने चने की दाल में जाने कौन-सा चटपटा जादू डाल देता रहा कि खानेवालों और पीनेवालों की दुनिया लोट-पोट रहती। वह जादू कर गया—जादू! आज भी उसकी चर्चा गाँव में क्या, जवार में है। जब से वह उठ गया, सैकड़ों के दिल बैठ गए।

मौलवी साहब

मौलवी साहब की तो कहीं भी कोई जगह न थी। सीधे-सादे सिटपिटाए आदमी थे—पुरानी रोशनी के परस्त, कुछ अजब खब्त, सिड़ी-से दिखते रहे।

जब तक वे जीते रहे, न दुनिया ने उनको जाना, न उन्होंने किसी को जानने दिया। हाँ, एकाध जो जानकार हैं, उनका दिल जानता है कि वे छोटे रहकर भी कभी खोटे न थे; क़ुदरत ने उनके चेहरे पर स्याही जो पोत रखी हो, उनका दिल काला न था; राम और रहमान के दरम्यान उनकी नज़रों में कभी कोई व्यवधान न रहा; देहबुद्धि से कहीं अधिक उनकी नस-नस में आत्मबुद्धि की भावना रही; रोज़ा और नमाज़ की पाबंदी रखकर भी मज़हब की कट्टरता की सड़ाँध में कभी धसे नहीं; ताजिया और महावीरी झंडे को एक ही उबाल के दो बुलबुले समझते रहे; किसी की आँख के आँसू उठा न पाए तो एक नन्हें कीड़े पर भी पैर नहीं रखा; इस देहाती दुनिया की नज़र में वे बस न सके तो किसी की नज़र से लुढ़ककर गिरे भी नहीं; और काश कहीं पर रोशनी बनकर नहीं चमके तो कहीं किसी के सर पर बादल बनकर भी नहीं छाए।

जब तक वे हमारे साथ रहे, 'घर की मुर्गी दाल बराबर' की तरह रहे; पर आज जब वे उठ गए, तो न जाने क्यों, रह-रहकर जी को ऐसा जान पड़ता है कि दिल की

दुनिया का एक कोना सूना हो गया। आज तो लगता है कि गोया हमारे घर के दरवाजे के सामने झमाट-सी जो नीम की गाछ रही, जिसकी वजह दनदनाती गाड़ियों और मोटरों को पौर तक आने में रुकावट होती रही, रात के सन्नाटे में जिसकी टहनियों की डरावनी झिलमिल छाया एक थरथरी—एक अजब सिहरन-सी पैदा करती, वह जब आज अनायास उखड़कर गिर गई तो हमारे बैठके में तपिश के बचाव की जो छाँह-सी थी, वह जाती रही—धूप, बरसात और जाड़े का वह चिर परिचित आश्रय सदा के लिए मिट गया और चैत की चाँदनी में जिसकी फुनगियों की मीठी सुगंध नस-नस में गुदगुदी-सी चुटकियाँ लेती, वह अब कभी नसीब न होगी।

और, मेरी ज़बान पर बरजस्ता उठ आता है नूरजहाँ की तुरबत पर खुदा हुआ वह मशहूर मिसरा—

'बर मज़ारे मा ग़रीबाँ ना चिरागो ना गुलो
ना परे परवाना सोज़द ना सदाये बुलबुलो' *

हाँ, आज यह मौलवी साहब के मज़ार पर होता, तो शायद अपनी जगह पर होता!

---

*हम गरीबों के मज़ार पर न शमा है न गुल; इसीलिए यहाँ न परवानों की तड़प है, न बुलबुल की चहक।

द्वैवी काया

हम आँख रखकर भी कहाँ देख पाते हैं! काश हमारी नज़र को अपनी ही नज़र रहती तो हम इस विश्व के ज़र्रे-ज़र्रे पर जलवा देख पाते। मगर नहीं, हमारी नज़र तो गोया नज़रबंद है। वह आठो पहर मन के हाथ की पुतली है।

मन तो घड़ी-घड़ी पहलू बदलता रहता है। जब जिस रंग में आता है, उसी रंग का चश्मा हमारी नज़र पर चढ़ा देता है। जभी तो हम हक़ीक़त कभी देख नहीं पाते—बस, देखते हैं मन की इस रंगसाज़ी का तमाशा। हमारे सामने की दुनिया वही है, जिसे हम खुद सवाँरकर अपने सामने रखते हैं। हमारे विचार हमारी नज़र हैं और हमारी वासना हमारी दुनिया। हाँ, अपने को अलग कर देखते, तो शायद हक़ीक़त नज़र आती। फिर न किसी से ऊबते, न कहीं पर डूब जाते और न इन आँखों पर किसी दृष्टि-भंगी का परदा रहता!

"इन आँखों ने क्या क्या तमाशा न देखा
हक़ीक़त में जो देखना था न देखा।"

भाई, कोई हक़ीक़त देख कब पाता है? उसकी मन-मानियाँ तो उसे अपनापन के तमाशे में लवलीन रख उसे भी एक तमाशा बना रखती हैं।

तो आप इस पहलू से सहमत नहीं हैं? आपकी यही दलील है न कि आदमी आँखों को सेंकता न फिरा तो फिर देखा क्या उसने? मन ही जब अलग रखा, तो फिर आँखें किस मर्ज़ की दवा होंगी? न वह उस रंग में आया, न कोई लुत्फ़ उठा सका।

मैं समझ गया, आपको डूबकर रंग में आना है! आइए, कोई मुज़ायका नहीं। पर हाँ, रंग में रँगे रह गए—उस जाल में पकड़ गए—तो गए! होंठ गड़ाकर रस पीना तो मन की तलाश है ही, पर जब वह रस लगता है नस-नस में भींगने तो!

आपकी यह आपत्ति भी सही है कि दुनिया की रंगीनियों से अलग ही रहना है, तो फिर वह दुनिया में आया ही क्यों? दुनिया की रंगीनियों से, उसकी जिम्मेवारियों से, उसकी परीशानियों से दुम दबाकर छिटके रहना है, तो उसका शुमार तो आदमी में नहीं। वह तो फिरिश्ता है या गधा!

मैंने यह कब कहा कि दुनिया की जिम्मेवारियों से कोई

हाथ धो बैठे ? यही करना है, तो हिमाचल की तराई में रहे—आदमी की बस्ती से दूर—बहुत दूर ! हाँ, इतना ज़रूर कहता हूँ कि दुनिया की रंगीनियों में डूबकर वह उस पार परीशानियों की चट्टान से टकराता है और फिर परीशानियों से सर तोड़ता रंगीनियों की ओर हाथ बढ़ाता है तो वहाँ केवल लहर-ही-लहर मिलती है, कोई ठहराव नहीं मिलता। और, बेल से बबूल के तले और बबूल से बेल के तले टकराता फिरना इस जीवन का चिरंतन चक्कर बन जाता है। कभी फ़ुरसत ही नहीं होती कि वह अपने आपको जानने की ओर रुख करे या किसी आदर्श जीवन की चोटियों की ओर क़दम बढ़ावे। हाँ, उसकी तलाश भी सुख ही है। कौन है जो इसे नहीं तलाशता, पर पाया भी है किसी ने ?

हम डूबते और उतराते रहे तो फिर दुनिया को देखा क्या ख़ाक ? हम तो बस, वासना की चरखी पर नाचते रह गए; इस संसार की चरखी का तमाशा देखने की नौबत ही नहीं आई। जो खुद तमाशा बन बैठा है, वह कोई तमाशा देख कब पाता है ? एक अनासक्त की आँख जो कुछ देख पाती है, उसे लिपटकर चाहनेवाला कभी देख पाएगा ? हाँ, जब लिपटकर चूसा तो रस पाया और जब चूसते-चूसते रस लगा विष होने, तो पछाड़ खाकर रो पड़ा।

खाने और पीने में तो मज़ा है ही, मगर खिलाने-पिलाने में भी एक अनूठा रस है। खाने और पीनेवाले के साथ तो बदहज़मी है और खुमारी भी; पर इसके साथ तो कोई वैसी प्रतिक्रिया नहीं। किसी ने कहा है—

"सब लोग जिधर वो हैं उधर देख रहे हैं—
हम देखनेवालों की नज़र देख रहे हैं!"

खेल खेलने से खेल देखने में भी एक ख़ास लुत्फ़ है। हाँ, मन को मुट्ठी में दाबकर देखना कोई खेल नहीं। यह कला तो आते-आते ही आती है। किसी रसीली महफ़िल में देखनेवालों की नज़र देखने में भी एक अनूठा अनुभव है। बेनज़ीर हैं इन नज़रों के नज़ारे! लोचन-पल्लवों की वीथियों में किसी की प्यासी आत्मा का अभिसार!! निगाहों के मंच पर किसी निविड़ रहस्य का अभिनय!!!

इकबाल ने गाया है—गाया नहीं रोया है—

"दुनिया की महफ़िलों से उकता गया हूँ या रब,
क्या लुत्फ़ ज़िंदगी का जब दिल ही बुझ चुका है!"

महफ़िल की तलाश की आख़िर यही मंजिल है न—दिल का बुझना! आदमी इस फीके जीवन से ऊब टूटता तो है चमन के फूल पर—फूल के रंग और बू पर—और उस उतावली में उलझ जाता है डाल के काँटों में। कवि की

वाणी कान में कूक देती है कि 'गुलों से ख़ार बेहतर हैं जो दामन थाम लेते हैं !' मगर काश, काँटों से लहूलुहान होकर भी उस गुल को वह चुन पाता !

मैं फिर भी कहता हूँ कि देह रहकर विदेह होने का क़ायल मैं नहीं। यह तो बड़ी चोटी की चीज़ है—और, हर किसी के वश की नहीं। मिट्टी की तह में सोकर जीवित निकल आना किसी योगी का काम है, आदमी का नहीं। आदमी तो आदमी है। वह सरापा भोगी नहीं, तो योगी भी नहीं।

मेरी धारणा इसी क़दर है कि दुनिया को अलग से देखना भी दुनिया की सैर ही है। यह कहना कि हम दुनिया के मजे लूट-लूटकर भी बिलकुल बेलौस हैं—कहीं कोई चीस न लगी—कोरी डींग है। महफ़िल के एक-एक दीपक की लौ से लोट-पोटकर खेले और कहीं पर आँच भी न आए—यह कोई बाएँ हाथ का खेल नहीं। हथेली पर जान रखकर खेलने से ताक़ पर मन रखकर खेलना कहीं मुश्किल है।

कुछ दिनों की बात है। मेरे एक मित्र अपनी नाम-वरी अपने मुँह से मुझे सुना रहे थे कि मैंने सब कुछ देखा, सुना और किया; फिर भी गोया मैंने कुछ नहीं देखा, कुछ नहीं सुना, कुछ नहीं किया। बस, तितली की तरह

उड़-उड़कर चमन के फूलों का रस चूसा और पंख झाड़ बेदाग़ निकल आया। किसी कांटे की एक खुरच भी न लगी। मैंने उनके पैर छुए और फ़ोटो उतारकर रख ली। फिर हाथ जोड़कर कहा कि मुझे आपकी वह कबड्डी भूली नहीं। वह लगे मुँह जोहने तो उनके अतीत की कृतियों के क़िस्से पेश करने पड़े।

वह थे बड़े फुर्तीबाज़। मजाल नहीं कि कबड्डी में कोई उनको छू ले। दौड़ने में तो तेज़ थे ही—छलाँग लेने में भी हिरन की चौकड़ी थी। जिस टीम के साथ रहे, उसकी जीत धरी रखी थी। जब वे विरोधियों के दल पर साँस रोककर टूटते, तो बिजली की तरह तड़पकर एकाध पर पंजा मार बेदाग़ अपनी ओर निकल आते। जब जाते तब एक दो को "उल्ला" करके ही तो लौटते।

एक दिन उनको यह धुन चढ़ी कि इस बार विरोधियों के एक-एक को पंजा मार साँस टूटने के पहले वापस आ जायंगे। उनको अपनी फुर्ती पर नाज़ था। यारों ने और भी चढ़ा दिया। मैंने उनको लाख कहा कि आख़िर उधर दस हैं, आप किस-किस को छूते फिरेंगे! मगर उनको तो धुन सवार थी। पिल पड़े। दो-चार तक से तो मजे में निभे, मगर आख़िर बुरी तरह पकड़ गए और मुँह की खाकर लौटे।

मैंने इस घटना को उनके सामने रख उनसे अर्ज़ की कि आपकी रीढ़ की हड्डी की मज़बूती का तो मैं ज़रूर कायल हूँ, मगर फिर भी वह आदमी ही की रीढ़ है और नसों में आदमी का ही लहू है। आप एकाध बार चमन की सैर कर आए—तज़रबे के लिए यह काफ़ी है। मगर उनको तो अपनी आंतरिक निःसंगता पर नाज़ था—हमारी कब सुनने गए!

मेरे एक और परिचित भी इसी ज़ीट के शिकार हो चुके हैं। वे फिलासफी के बड़े मेधावी छात्र रह आए हैं। योगासन की बारीकियाँ भी उनकी उँगलियों पर थीं। आदमी थे बड़े ज़हीन—लाखों में एक। जिस विषय पर जाते, उसे तार-तार कर रख देते। हाँ, गहराई उतनी न थी, चौड़ाई ज़रूरत से ज्यादा थी। दर्शन की छान-बीन के साथ साथ सेक्स की किताबों में भी उनकी काफ़ी दिलचस्पी थी। आख़िर उनको यह खला कि किताबी जानकारी काफ़ी नहीं, कुछ डूबकर देख लेना भी ज़रूरी है और प्रयोगशाला में जो घुसे, तो आज तक वापस नहीं आए।

मैं बहुत कुछ कह गया। कहाँ से कहाँ उतर आया। मेरी मंशा यह कदापि नहीं कि हम आँखों में पट्टी बाँध रखें या कानों में डाट दे रखें। मैं तो कहता हूँ कि आँख और कान खोलकर ही दुनिया की सैर ज़रूरी है। यह जो

किसी ने कहा है कि—'हुस्न किस काम का गर देखनेवाला न हुआ ?'—मुझे ज़रा भी इससे आपत्ति नहीं। मगर हाँ,—'जाता है दौड़-दौड़कर दिल भी नज़र के साथ'—तो फिर यह अंदाज़ उस दृष्टि-पथ पर एक रोड़ा होगा। हमें निष्पक्ष देखने तो देगा नहीं, उलटे अपना ही बाज़ार गर्म कर रखेगा! आदमी को आंखें तो देखने के लिए मिली ही हैं; मगर हां, देखने का भी अपना एक ख़ास अंदाज़ है।

"कौनसी जा है जहाँ जल्वए माशूक नहीं,
शौक़ दीदार अगर है तो नज़र पैदा कर"

हम सुरूप और सौरभ के उपासक हैं, तो आँखों को उतारकर हृदय में रखें। उसके फव्वारे कुछ और हैं, मन के इशारे कुछ और। अनुभूति की दृष्टि खुली नहीं, तो फिर आदमी ने आँख रखकर देखा क्या ?

आज हमारी अनुभूति सजग रहे, तो फिर हमारे साथ न आग्रह रहे, न भ्रम। हम अपने नुक्ते-नज़र के हाथ बिकें नहीं और हमारी दृष्टि का परिसर विश्व के एक-एक ज़र्रे पर उदार रहे।—

"हर बुत में नज़र आने लगे शाने-ख़ुदा की
देखे कोई मंदिर को बिरहमन की नज़र से"

× × × ×

देवी बाबा

देवी बाबा को भी हमने देख नहीं पाया। शायद उनको देखकर भी हमने नहीं देखा। देखा भी तो मन की आँखों से, दिल की आँखों से नहीं।

दुनिया ने उनके सर की तिरछी कमरखी टोपी देखी, उनकी गजलखानी और फ़ारसी की बुकनी देखी, उनकी भाव-विलासिता की रंगीनी देखी, उनकी ज़बान की नुक़ीली छुरी देखी, उनके धर्म की निष्ठा की कमी देखी, एक रिश्ते-मंद के घर पछाड़ खाती उनकी मोहताजगी देखी और बस, अपने मन के काँटों पर तौल एक मनमानी तसवीर आँक ली। काश, वह इस मन को अलग कर अनुभूति के सहारे सतह के तले उतर पाती, तो उसे पता चलता कि यह पतला-दुबला हँसमुख आदमी अपनी चादर के छोर में आह का एक ववंडर बांधे फिर रहा है, जिसे वह खोल पाता, तो क्षीर-सागर में भी तूफ़ान उठा देता!

किसी को यह कब पता था कि यह बित्ते-भर का आदमी अपनी बुलंदख़याली में हज़ारों से ऊँचा है; उसकी सिकुड़ी हुई छाती की तह में लाखों में एक चौड़ा दिल है, तमाम उम्र एक धनी संबंधी के दर पर हाथ फैलाने के लिए बाध्य होकर भी उसने हाथ ऊँचा ही रखा, जीवन के तमाम अरमानों को अपने दिल में दफ़ना कर भी उसके चेहरे पर प्रसन्नता का एक पुलक तुरबत

पर उगे हुए फूल की तरह बराबर खिला रहा और कितनी छोटी-मोटी बदगुमानियों और बदनामियों की टोकरी सर पर ढोता हुआ भी न रास्ते से कभी डिगा, न तिलमिलाकर गिरा ही। यह भी एक जीवट का तमाशा है कि अरमानों की जिस दुनिया में कभी बहार का पयाम आया ही नहीं, वह दुनिया के तमाम अरमानों को ताक़ पर रखकर भी आज़ादी के नग़मों से झंकृत ही रही।

हमें जीवन की इस रपटीली राह पर हज़ारों मिले—हज़ारों मिलते हैं। किसी से छन-भर साथ रहा, किसी से बरसों निभा; कोई आसमान पर चमका, कोई पल-भर भभककर रह गया; कितने इस कूचे से बिस्तर लपेट चल दिए, कितने हमारी तरह चलने के लिए तैयार हैं; और आने-जाने का यह ताँता बराबर बँधा है—लोग आ रहे हैं, जा रहे हैं। हम न जाने किस अनजान देश के बटोही हैं! कहाँ से आए, कहाँ चले जा रहे हैं—पता नहीं। बस, सब की देखा-देखी साथ-साथ चल रहे हैं। और, हमारी एक-एक साँस मौत के पौर की ओर सरकती हुई एक-एक क़दम है। हम चलते-चलते ठोकरें भी लेते हैं। कोई हँसकर आँखें फेर लेता है, कोई मुड़कर देखता तक नहीं; कोई एक ज़रा-सा कंधा का सहारा दे बढ़ जाता है—सब अपने-अपने बहाव के बीच में हैं, अपनी-

अपनी धुन में धुने हुए हैं। किसे फ़ुरसत है कि हाथ-में-हाथ बटाता चले। और, हम यों ही बचपन से जवानी और जवानी से बुढ़ापे की मंजिलें तै कर रहे हैं—देखते, सुनते, रोते, गाते, तिलमिलाते, गिरते। मगर हाँ, इन छिलते हुए कंधों की भीड़ में कभी कोई एक ऐसा भी निकल आता है, जिसे देखकर हमारा दिल हिल जाता है, उसकी पीड़ाओं के सामने हमारी अपनी पीड़ा गुम हो जाती है और होंठ लरज़ उठते हैं—बेचारा !

मुझे इस आसमान के तले एक-से-एक पीड़ित, एक-से-एक आर्त्त को देखने का अवसर मिला है। पर वह कोई भी दर्दभरी तसवीर देवी बाबा की करुण मूर्ति के सामने खरी नहीं उतरी। सौ बात की एक बात यह कि वह अथ से इति तक आँसू और उसाँस की एक जीवित प्रतिमा है ! कहीं भी कोई ऐसा नहीं जिसे इस दुखभरी दुनिया में एकाध सुख का घूँट भी न मिला और वह आठों पहर लहू के घूँट को शरबत का घूँट बना पीता रह गया ! भगवान भला करे उस आदमी का, जिसके दिल के पहलू में न तो किसी बीते हुए वसंत का सौरभ है, और न आगे भी किसी मलय की उमीद ! जिस बदनसीब का एक सपना टूटता है, उसका दिल लगता है डोलने। मगर कोई क्या कहे उस उजाड़ जीवन की, जहाँ झाँकने में सपनों

की भी छाती दहलती है; मुरादें उठते-उठते थर्राकर बैठ जाती हैं और उमंगें तो दूर से ही कतराकर निकल भागती हैं। बस, एक समझ इन ख़ामख़ाहों की ढिठाई पर मुँह पर रूमाल रख बराबर मुस्कुराती रहती है।

× × ×

मुंशी देवीलाल का मकान ग़ाज़ीपुर था। यों तो बाप-दादे का मकान देहात में कहीं था, मगर वे बराबर शहर में ही रह आए। पैदा हुए वे एक खासे जमींदार के घर, जहाँ घी के चिराग जलते रहे। मैं समझता हूँ, उनका जन्म ग़दर के पड़ोस में होगा—एकाध साल इधर या उधर। उस युग की अमीरी बेफ़िक्री की अलमस्ती रही। उसी अल्हड़ आबोहवा में पलकर वे जवान हुए। शहर में फ़ारसी की तालीम पाई। शायरी की दिलचस्पी बचपन से ही पनपी और मरते दम तक बनी रही। बक़ौल उनके—
'छुटती नहीं है मुँह से यह काफ़िर लगी हुई!'

मुंशी देवीलाल के बाप और चचा शराब और कबाब के उपासक थे। उनकी जिंदगी इसी मस्ती के कूचे में गुज़री। सुना है वे छूटकर कबाब खाते और शराब पीते रहे। इधर शराब और कबाब उनकी जवानी को पीती गई, उनकी पूँजी को खाती गई। उम्र का पैमाना भरता गया, मन का पैमाना उफनता रहा।

देवी बाबा

देवी बाबा का विवाह उनके जीवन का एक करुण अध्याय है। उसका बयान उनकी अपनी ज़बान में आगे आएगा। यहाँ इतना ही यथेष्ट है कि उसी मुहल्ले में एक कमसिन से उनकी आँख मिली। वह तसवीर उनकी नज़रों में समा गई।

शादी की चर्चा छिड़ गई। महीनों आशा और निराशा की आँखमिचौनी चली। वे तरसा किए—तड़पा किए—जला किए। और इसी बेकली की लहर पर उठकर वे कल्पना के लोक में उड़ने लगे। दिल का दर्द ज़बान पर आते-आते तराने बनकर फूटा।

पीड़ा ही प्रेम के धूप की सुरभि है और वाणी द्वारा उस सुरभि का संचार ही काव्य! बक़ौल उनके शायरी तो बस, दर्द-दिल की मीड़ है! मन की मौन वेदना की व्यंजना ही कविता है—अतृप्त आकांक्षा ही उसकी प्रेरणा।

वसंत का वह प्रथम संदेश विवाह-मंडप की सप्तपदी के भीतर उठा और मिट गया। 'वह चमन ही लुट गया जिसमें बहार आने को थी'। उनकी उमा उनके जीवन में करुणा बनकर रह गई। सूना जीवन दर्द से भर उठा।

सर पर बादल छाता है, तो दल बाँधकर छाता है। चोट पर चोट! साल जाते-जाते बाप और चचा भी उठ गए। माँ और चची तो पहले ही चल चुकी थीं। रह

गए अकेले मुंशी देवीलाल। रह गए संगी—एक गिरता हुआ मन—एक उठता हुआ यौवन।

उनके चचा की लड़की मेरे पितामह के अनुज से व्याही थीं। उन्हें जब पता चला कि क़र्ज़ की एक छोटी-सी चिनगी ने लापरवाही की आहुति पा भभककर कोना-कोना घेर लिया है और अब सर्वस्व जल-भुनकर खाक होने पर आया है, तो वे उस आग में कूद देवीलाल को निकाल लाईं। भाई की जान तो बचा सकीं, मगर भाई का मान बचाना उनके बूते की बात न थी। बहनोई के घर आने को वे तैयार न थे, पर महीनों अगर-मगर के बाद बड़ी बहन के सत्याग्रह के आगे उन्होंने माथा टेक दिया।

इधर महाजनों ने एक तिनका भी न रखा। ज़र्रा-ज़र्रा चुन लिया।

जी होम कर वे आ तो गए, मगर बहन के लाख पुचकार पर भी अमारत के कूचे में फिर क़दम नहीं रखा। दो रोटी, दो मोटे कपड़े और पान-पत्ते के लिए एक छोटी-सी बँधी रक़म के अलावा कभी और कुछ न लिया—न माँगा। और यही धज बराबर बनी रही।

सरकारी फाटक के पास एक छोटी-सी कोठरी में वे आकर जो रहे तो फिर मौत के ही घर उठकर गए—घर

भी झाँकने नहीं गए। उठती जवानी में वे आए—बुढ़ापे की दुपहरी में वे उठ गए।

उन्हें इतनी समझ बराबर रही कि बहन का मान रखना है, तो फिर जीवन के तमाम मीठे अरमानों को ताक़ पर रखना होगा। बहनोई के घर जाने के लिए हाथ पातना पड़ा—यही काफ़ी शर्म है। अब बेखटके हाथ फैला-फैलाकर अमारत के चाव-चोंचले में पले दिल और दिमाग की फ़रमाइशें भी चलीं, तो वे कहीं के न रहे। जवानी के पौर पर पैर रखते ही उनकी खुली आँखों ने झट यह अंदाज़ लगा लिया कि इस कुहुकिनी की मीठी बातों में वे आ गए तो संभव है कि जीवन में थोड़ा रस तो मिले, पर उस रस की एक बूँद भी उनके चेहरे के तमाम पानी को धोकर बहा देने के लिए काफ़ी होगी।

मैंने जब होश सँभाला तो वे चालीस के पड़ोस में थे। जवानी का उतार शुरू था। लगभग बीसों बरस उनके रहते हो चुके थे। तब पिताजी की अमलदारी थी। उनकी बहन और बहनोई तो जिस साल वे यहाँ आए उसी साल भरी जवानी में उठ गए। दो साल बाद मेरे पितामह ने भी भाई का साथ दिया।

कह नहीं सकता कि क्यों बचपन में मैं उनके पास फटकते डरता रहा। उनके घर का भूत उनके सर पर सवार

हाँ, तो एक रिश्तेमंद के घर पर आकर जो हाथ-पैर तोड़ बैठ जाता है, उसके मुँह का पानी आप ही उतरा रहता है। कोई यह भूलकर भी नहीं देखता कि किस परिस्थिति में पड़कर उसने इस पत्थर को सीने पर रखा। उसकी बेबसी पर तरस खाना तो दूर रहे—उसकी आँखों से आँसू उठाना तो दरकिनार रहे—उसे लान-तान सुना हम उस सीने पर दाल दलते हैं। उस बेशर्म की तसवीर और है, जो बहन के घर नीड़ बाँध भी अपने चेहरे पर शिकन तक नहीं रखता और मुफ्त के हलवे-माड़े चाट डकार तक नहीं लेता। अव्वल तो मुंशी देवीलाल ने कभी नीड़ बाँधा ही नहीं। मेरे पिता ने लाख कोशिश की कि यहीं घर बाँध वे बस जाते। बहुत काफ़ी ज़मीन वे उनके नाम लिख देने को तैयार थे। मगर एक पल के लिए भी इस ख्याल को उन्होंने दिल में जगह नहीं दी। कभी मेरे पिता इसरार करते तो वे हँसकर कहते—"समझे भैया, मेरे साथ कोई भी बंधन नहीं—परिवार का या जायदाद का। यह आज़ादी भी तो एक बड़ी न्यामत है। भगवान की इस देन का मेरे दिल में आदर न रहा तो मैं आदमी रहा या जानवर। जिसे दुनिया में कहीं भी कुछ अपना नहीं है, उसकी भी अपनी एक निराली शान है।"

जब कोई भी कौर उनके हलक़ के नीचे आसानी से नहीं

उतर पाता तो वे बहन के घर सर पर मौर बाँधते ! मगर दुनिया उनकी इस पशोपेशी को नहीं देखती—उनके थाल की रोटियों और कढ़ी को देखती। उसे क्या पता है कि वे खा क्या रहे हैं—तर माल या अपना दिल ! वह तो देखती है कि वे मज़े में खा-पी रहे हैं—खुश हैं। मौक़े-बे-मौक़े हँस-बोल भी लेते हैं। कोई किसी को दिखाकर लहू नहीं पीता—शरीफ़ उसे पीता है तो अंदर ही अंदर घुट-घुटकर पीता है। वे बड़े से छोटे तो हो गए थे, पर उनका बड़प्पन छोटा नहीं हुआ था। वह छोटा होता तो बड़प्पन की धुन में वे कुछ और होते !

हम जितने में हैं उतने में ही रह पाते, तो शायद किसी की आँखों में कभी चुभते नहीं। मगर हम अपनी हद के भीतर कहाँ रह पाते हैं ? काले हैं तो साँवले बनेंगे और साँवले हैं तो गोरे। हम तो चाहते हैं कि हम जो कुछ हैं उससे कहीं बढ़कर ही दिखते रहें, दुनिया यह न भाँप सके कि हम बन रहे हैं, ऐसे हैं नहीं। दुनिया इस बनने को समझ नहीं पाती है, हमारी ही समझ हमें समझाकर दून पर रखती है, वरना उसकी निगाह में तो कोई भी ज़रा बन-ठनकर फुदका—अपने ही आँगन में सही—वह निस्संदेह मोर के पर में काग ही होगा, मोर नहीं। वह क्या जानती नहीं कि सोना होना और है, सुनहला होना और ! मगर हाँ, ज़ुल्म तो

तब है कि जब हम बनते भी नहीं फिर भी दुनिया यह समझकर कि कौन जैसा दिखता है वैसा ही है, हमारी एक-एक चेष्टा में जाने क्या से क्या देख लेती है, हमारी हँसी में बेशर्मी पाती है; हमारे आँसू में मक्कारी। हमारी तमीज़ में सरासर मिज़ाज देखती है, हमारी दिलदारी में वज़ेदारी।

देवी बाबा के विचार ऊँचे थे। जनता उस मीनार की ऊँचाई को छू नहीं पाती, तो उस ऊँचाई पर उन्हें देख भी नहीं पाती। उन्हें घसीटकर अपने पाँवतले देखना चाहती रही। काश उनको पाँव के तले पाती, तो इस पतन पर खुश होकर दो बूँद आँसू भी गिरा देती, तो कोई अचरज नहीं। वह जो किसी ने कहा है न कि कोई अपने से बढ़कर किसी को देखना नहीं चाहता—बस, वह दबा रहे तो एक नज़र भी उस पर रखने में कोई मुज़ायका नहीं।

छिछोरी बात, भद्दे मज़ाक, तंग विचार, अंधविश्वास, मुँहदेखा बर्त्ताव—ये सब चलते सिक्के तो ज़रूर हैं, मगर देवी बाबा ने इस गर्मबाजारी से भरसक अपना दामन बचाकर रखा; और यह बराबर क़तराकर चलना ही उनके लिए ज़हर हो गया था। वे भी किसी बड़े रईस के ढुलमुल साले की तरह बहनोई के दुशाले कंधे पर डाल ठुमकते रहते—कुछ खाते और खिलाते—तो शायद यह रईसी किसी को खटकती नहीं। खटकती रही उनकी

रियासत। उनके दिल की करवटें, उनके मिज़ाज की अँगड़ाइयाँ कुछ ऐसी नाज़ुक—इतनी बारीक—थीं कि छिछली निगाहवाले उस तह तक पहुँच ही नहीं पाते। वह अदब, वह तहज़ीब, वह तमीज़, वह तकल्लुफ़—कुछ वही समझ पाता जो उस जमाने की सूक्ष्म शिष्टता के वायुमंडल में पनपा होता। हमारे यहाँ के बड़े कहलानेवाले छोटे विचार के लोग उनकी मज्जागत शिष्टता को खामखाह का एक आडंबर पाते। नाच न जाने आँगन टेढ़ा। जिसकी आँखों पर कमख़ाब की चमक लगी है, वह कब समझ पाता है कि गाढ़े की मिर्ज़ई पर भी किसी की रेशमी वज़ेदारी मज़े में निभ सकती है।

तमीज़दारी तो उनमें कूट-कूटकर भरी थी। आज भी याद है, एक बार जाने कैसे उनके अँगरखे की तह में एक बौखलाया हुआ हड्डा घुस गया और पीठ और छाती पर लगातार डंक मारता चला गया। मगर चूँकि वह भरे दरबार में बाक़ायदे बैठे किसी गंभीर विषय की आलोचना में मसरूफ़ थे,—ज़रा भी न चीख़कर हिले, न तड़फड़ाकर उठ पड़े। चेहरे पर बल भी न आया। अदब से बैठे बातें करते रह गए। जब उनकी बात पूरी हो गई और वे इजाज़त लेकर बाहर आए, तो अँगरखा उतारते-उतारते दर्द के मारे बेहोश होकर गिर पड़े। कई

जगह कंधे और सीने पर लाल-लाल चकते उग आए थे और वह जलन और सूजन कि देखनेवालों की छाती दहल गई।

देवी बाबा तो कभी इस भ्रम को नहीं भूले कि वे बहन के घर पुलाव के लुक़मे नहीं खा रहे हैं, क़िस्मत के चक्कर में ठोकरें खा रहे हैं। और, इस चैन के खाने से उनकी जान जो बचती है, उनका मान नहीं बचता। फिर भी वे अपनी शान को तो ताक़ पर रख सके—अपनी ज़बान को मुँह में रख नहीं पाते। कोई छेड़ बैठता तो दो-टूक सुना देते—और बस, एक बेबस के मुँह में यह ठोस बात छोटा मुँह बड़ी बात बन जाती। दुनिया तो चाहती रही कि मान के साथ-साथ उनका स्वाभिमान भी चूर-चूर रहे; पर उन्होंने अपनी इस निराली शान को ईमान के साथ सुरक्षित रखा।

बड़े घर का लाड़ला जब औचक की आसमानी ठोकर पर रेशमी हिंडोले से उखड़कर ज़मीन पर आता है, तो वह मिट्टी में पैर रोप नहीं पाता—लगता है रेंगने। उसकी कमर ही नहीं टूटती, दिल भी टूट जाता है।

यौवन के वासंती सपनों का चमन तहस-नहस होकर वीरान तो होता है, पर मन के उन मुरझाए सुमनों की जड़ अंतस्तल में दबी रह जाती है। सजग विचार की

लू से उनका फिर पनपकर कोंपलें देना तो आसान नहीं। मगर क्या वे सूखे कांटे रह-रहकर दिल में चुभते भी नहीं हैं ?

मैं समझता हूँ कि देवीलाल की तमाम अतृप्त आकांक्षाएँ उनके हृदय में सिमटकर रह गईं। मगर हाँ, इस प्रलय को पीकर भी वे हँसते रहे। और चेहरे की इस हँसी को यारों ने बेशर्मी की हँसी समझी। दिल की वासंती वासनाओं को दफ़न उन्होंने भले ही कर लिया हो, पर दिल को दफ़नाना खेल नहीं। दिल की फरमाइशों पर हम कान न दें—दिल की टेर को अनसुनी कर देना आसान नहीं। उनके दर्द पर दुनिया पसीजती है या नहीं—इसकी परवा उनको न थी। पर औरों के दर्द पर उनका दिल अनायास हिल जाता। हाँ, जब हाथ ऊँचा रखना उनके हाथ न था तो फिर दिल ऊँचा रहा या न रहा—दोनों बराबर है। जो खुद भूखा है, वह दूसरे की भूख को भले ही पहचान ले, पर वह अपनी भूख दिखाकर किसी की भूख को तो मिटा नहीं पाता। वह अक्सर बेलौस रहता है। देवीलाल भी चाहते तो थे बेलौस रहना; मगर चाहना और है—होना और।

देवी बाबा बराबर कहा करते कि मुफ़्त की रोटी किसी को हज़्म नहीं होती। वह एक-न-एक दिन फूटकर

निकल ही पड़ती है। हमलोग कभी हँस देते तो ज़रा भौं सिकोड़कर कहते—"यह लो! तुम्हें यक़ीन नहीं होता? सबूत तो मैं मौजूद ही हूँ। देखते नहीं, तिल-तिल गला जा रहा हूँ।"

बेकार बैठकर खाना उनको ज़हर खाना था। इधर मेरे पिता को उनसे कोई काम लेना सर पर भारी बोझ लेना था। वे कोई ग़ैर थोड़े ही थे कि मुट्ठी-भर आटे पर भी क़ीमत रखी जाय? कोई एक दूसरे का अहसान लेने को तैयार न था। किसी की शराफ़त में बट्टा न लगे—दोनों ओर से बराबर पैंतरे थे। और दोनों बाँकुरों को अपने बाहुबल पर नाज़ था। दोनों के वार-काट एक दूसरे के जवाब थे।

मगर दरबारियों की फबती भी चलती रही—"अजी, बन रहे हैं! कुछ और की बंदिश है।" मगर मेरे पिता समझते रहे कि देवी मामा कोई ऐसे-वैसे नहीं हैं। नेह के नाते वे जो दो-चार कौर मुँह में रख लें—किसी दया का दान तो वे जान के लिए भी लेनेवाले नहीं हैं। उनकी दौलत चली गई है, उनकी रियासत ज्यों-की-त्यों है। धन और बड़प्पन कुछ चोली और दामन नहीं होते। धनी होना और है—आदमी होना और।

हमारे यहाँ की फ़ारसी की लाइब्रेरी उनकी देख-रेख में

रही। लाइब्रेरी में बैठ फ़ारसी की किताबें देखते-देखते उनकी देख-रेख भी करने लगे। साथ-साथ हमें भी फ़ारसी पढ़ाते। बग़ैर कुछ किए तो वे खुश होते नहीं और मेरे पिता ने भी देखा कि यह कोई ड्यूटी की पाबंदी नहीं—उनकी दिलचस्पी ही है। दोनों ओर की मुश्किल आसान हो गई। हाँ, जब बीमारी से मजबूर हो गए, तो फिर करते क्या ? इसी बीमारी का हीला खड़ाकर पान-पत्ते के खर्च के लिए जो छोटी-सी रक़म बँधी थी उसे भी इनकार कर दिया। साफ़ कह दिया कि अभी ज़रूरत नहीं है। जब होगी, खुद माँग लूँगा।

मेरे पिता ने जब आग्रह करना चाहा तो उन्होंने एक शेर लिख भेजा—

क्या काम तकल्लुफ़ का साग़र का सुराही का
काफ़ी हमें साक़ी तेरी नज़रों की गुलाबी।

हाँ, जब अच्छे हो गए, तो फिर टालने की कोई वजह न रही।

फ़ारसी तो मैं उनसे पढ़ता ही रहा, साथ-साथ उनके दिल को पढ़कर समझने का मुझे अवकाश मिल गया। फ़ारसी समझना आसान था, उसे समझ लेना आसान न था। वे जल्द खुलते तो थे नहीं कि कोई पढ़ पाता। मगर हाँ,

जब खुलने लगे, तो मुझे दिल की एक दुनिया नज़र आ गई।

देवी बाबा की एक उक्ति आज भी मुझे भूलती नहीं। किसी अवसर पर उन्होंने कहा था कि आजकल के बने-ठने आदमियों की भीड़ में किसी आदमी की पहचान कोई खेल नहीं है भाई! पराई पीर पर जो आँखों में नीर रखे आख़िर वही आदमी है न?

और मैंने जब पहचाना, तब पाया कि यह आदमी दिल-दार ही नहीं दिलेर भी है, और दिल के पहलू में दर्द का एक ख़ज़ाना चुराकर रखता है, जिसे दुनिया पाती तो अघा जाती। और अतीत की किसी मधुर स्मृति की एक तस्वीर उसके दिल पर नक़्श है—उसकी आँखों में फिर रही है—जो पल-भर भी उसे चैन नहीं लेने देती।

एक दिन की घटना यह है कि हमलोग राइफल से चाँदमारी कर रहे थे। अक्सर दुपहरी की यह दिलचस्पी थी। बड़े तालाब में घड़े मुँह के बल लुढ़का दिए गए और जब वे तैरते हुए दूर निकल गए तो बस, इस पार से गोली का निशाना साधते। आधे दर्जन घड़े पानी में लुढ़काए गए। इधर दायँ-दायँ दो राइफलें गूँजने लगीं, मगर अजब शुदनी, कोई भी गोली निशाने पर नहीं गई।

देवी बाबा घाट पर खड़े इस चाँदमारी का मज़ा लूट

रहे थे। जब दर्जनों गोलियाँ चुक गईं, तो वे ज़रा हँस-कर बोले—"अच्छा लाओ, मैं एक को तो उड़ा ही दूँ !"

हमलोग लगे उनका मुँह ताकने। किसी को यक़ीन न हुआ कि वे राइफल सँभाल सकेंगे। एक तो उनके हाथ काँपते रहे, दूसरे किसी ने कभी उनको बंदूक छूते भी नहीं देखा था। खैर, उन्होंने हँसकर राइफल थाम ही तो ली और छतियाकर लबलबी पर काँपती उँगली जो रखी, तो तड़ाक-से घड़ा का पेंदा फटा और ग़ायब।

अब तो हमलोग उनके पीछे पड़ गए। यह न होगा—बस, शिकार में साथ चलिए ! और वे जाने को तैयार न थे। जब कभी हम सिर हो जाते, तो रो-गाकर साथ देते ही, मगर लाख इसरार पर भी किसी चिड़िया पर हाथ न उठाते। तमाशा तो देख लेते, पर बंदूक खुद न छूते। हाँ, शिकार के तमाम पहलू उनकी उँगलियों पर थे। सलाह-बात में वे एक हद तक शामिल भी रहते, अपना अनुभव भी बताते और बस ! हमलोग चक्कर में थे। आख़िर वे कोई परहेज़गार भी न थे। फिर ऐन मौक़े पर जाकर हाथ क्यों समेट लेते हैं, यह भेद खुलता नहीं रहा।

मेरी बस्ती से थोड़ी दूर एक बड़ा-सा भकठा तालाब है। वह भी अपना ही मौज़ा है। जाड़े में झुंड के झुंड मुर्गाबियाँ उस तालाब पर उतरती हैं। वह शिकार का

अड्डा रहा। मगर परिंदों की वह टोली कुछ अजब दूरदर्शी थी। दूर ही से उसे बंदूक की गंध लग जाती और वह उड़-उड़कर तालाब के इर्द-गिर्द चक्कर काटती रह जाती। और उड़ती हुई चिड़ियों पर निशाना साधना खेल न था!

उस साल लालसर भी कहीं से आ टपके थे। हमलोग बन-ठनकर तो गए, मगर बैरंग वापस आए। यह लाल-सर टीलों के भी चचा निकले। हवा उनके कानों में कुछ कह देती और गाँव के सिरे पर क़दम भी नहीं रखा कि वे लगे हवा से बातें करने। इतने ऊँचे उठ गए कि छर्रे की पहुँच कहाँ तक होती! और गोली उनकी छाती पर बैठा देना कोई बाएँ हाथ का खेल न था!

एक दिन देवी बाबा को ले चलने की ठहरी। पहले तो कहा नहीं। रास्ते में कल का किस्सा सुनाया। कैसे हम हाथ मल रह गए, कुछ हाथ न आया। वे ताड़ गए। लगे टालने। हम लगे मचलने।

वहाँ पहुँचकर देखा कि लालसर की टोली काँव-काँव करती उड़ चली है; आसमान छूने लगी है। तालाब पर आते-आते अनाड़ियों की पहुँच के बाहर उठ गई।

देवी बाबा एकबारगी टूट-से पड़े—"नहीं भाई, हमसे यह काम न होगा। ये तमाम जोड़े हैं—किसे फूट करें?

हम पर जो कुछ बीत रही है, भगवान न करे, किसी परिंद पर भी वह बीते।"

और उसी तालाब के किनारे बैठ वे लगे अपनी बीती सुनाने—

"बाबू! बचपन से ही मुझे शिकार का शौक़ था। मेरे चचा तो बड़े मार्के के शिकारी रहे। पीकर जब टन् होते, तो आसमान पर पैसे फेंक गोली से उड़ा देते। चिग्घाड़ते चीते के हलक़ में गोली उतार देना कुछ उन्हीं के हाथ का जादू था। अपने वक्त के एक ही थे वे। उनकी बात तो उनके साथ गई। और मैंने जो कुछ पाया, उन्हीं से पाया। उड़ती चिड़ियों को मैं चुनौती देकर चुन-कर धर देता। वह भी गोली से, कुछ छर्रे से नहीं। वह हाथ की सफ़ाई आज हाथ की थरथरी रह गई है! बेगुनाह परिंदों के लहू से हाथ रँगना हाथ ही पर बीता—नहीं नहीं, हाथ ही पर क्यों, मेरी जिंदगी पर आ गया! हाँ, तो सुनो—

"उसी मुहल्ले में मेरे चचा के एक दोस्त थे। उनके एक लड़की थी उमा। उसे मैंने एक दिन गंगा-नहान के वक्त देख लिया। देखा तो एक ही पल, पर आँखों को फोटो उतार लेने के लिए एक पल बहुत है। भाई, उस एक पल में मुझे जो कुछ मिल गया, वही इस हृदय का तमाम काव्य—इस जीवन की तमाम निधि—है। वह

जीती-जागती तस्वीर थी—बड़ी-बड़ी रस-भरी आंखें........ बस, शिकार तो गया छूट, मैं खुद उस चितवन का शिकार हो गया। और कुछ न पूछो, लगा कल्पना के कँगूरों पर पर मारने। एक नया ही गुल खिला। यों तो शायरी से दिलचस्पी बचपन से ही थी। कभी कुछ सुन लिया, कभी कुछ पढ़ लिया। उस नई टीस की ठेस जो लगी तो ज़बान फूट पड़ी। लगा कहने। एक नशा था—नशा!........अच्छा, जाने दो उसे........

"हाँ, मेरे चचा को भी ख़बर हो गई। बेचारे मुश्किल में पड़े। शादी की चर्चा तो छिड़ी, मगर लड़की-वाले साफ़ खुले नहीं। शराब और कबाब की दोस्ती ठहरी। उनसे दिल की मिल्लत रहती, तो बात और होती! उनको पता था कि हमारे सर पर कर्ज़ के बादल मँडरा रहे हैं—कहीं फट पड़े! तो हम कहीं के न रहे! मगर चचाजान आदमी थे हुशियार। घर पर दावत दी। शहर के दो-चार रईस भी आए। पीने-पिलाने का अच्छा सिलसिला रहा। लड़की के बाप भी मौजूद थे। पीकर लगे जो दिल लुटाने, तो बात-की-बात में बात पक्की हो गई। मुराद तो मिली, मगर भाई! वह दावत ही तो मेरे लिए मौत की दावत हो गई।"

"सो कैसे?"—मैंने छेड़ा।

"सुनो तो! उस दिन तड़के चचा ने कहा था—'देवी, खस्सी तो ख़ैर है ही—मगर दावत में क़ोरमे के लिए एकाध चिड़िया भी तो चाहिए न? बटेर और तीतर तो मिलने से रहे। बस, बंदूक कंधे पर लो—दो-चार चाहे या और कुछ लाओ!"

"बरसात का अय्याम। उन दिनों जोड़े लगते हैं, अंडे-बच्चे होते हैं। शिकार मना है। मगर मैं तो अपने जोड़े की धुन में था। चट बंदूक उठाई और शहर के बाहर निकल पड़ा। घंटों दौड़ा किया। कहीं कुछ मिला नहीं। हठात् एक बबूल की झाड़ी पर फ़ाख्ते के जोड़े नज़र आए। दोनों रंग में थे। एक दूसरे के डैनों में चोंच डाल चूमा-चाटी चल रही थी। मैंने बंदूक जो दागी, तो एक धम-से ज़मीन पर आ गया। उसका गिरना था कि उसका जोड़ा चीख़कर चक्कर काट मेरे सर पर टूटा और मेरी टोपी पर झपट्टा मारते उस लहू-लुहान चिड़िए की छाती पर जा टपका। लगा चीख़-चीख़कर रोने—चोंच से चूमने-चाटने। उनकी आँखों-आँखों में दर्द की दरिया उमड़ पड़ी। मुझ पर तो वहशत सवार थी। उस पर भी बंदूक तानी। हठात् टोपी चटक गई। हरचंद कोशिश की, मगर नहीं दगी—नहीं दगी। और उस सर्द चिड़िए की लाश पर तड़पते हुए उसके जोड़े की चीख़ लगी छाती की

पंजरियों पर चोट देने। मेरा दिल हिल गया। वहाँ खड़ा न रह सका। उसे वहीं छोड़ दूसरी ओर चल दिया। थोड़ी देर इधर-उधर चक्कर काटता रहा। फिर शिकार में जी न बैठा। लौटकर चचा से कह दिया—कुछ नहीं मिला।

"घर आते ही ख्याल बट गया। दिल की करवटें कुछ और थीं। इंतज़ार की लज्ज़त में डूब गया। ख़ैर, दावत के अगले महीने शादी तो हो गई, रुख़सती न हुई। उनके घर दस्तूर न था। चंद महीनों की देरी थी। शादी में मैंने उमा को देखा तो सही—मगर उससे कुछ भी तसकीन नहीं हुई, बल्कि प्यास दुगुनी हो गई।

"घर आया। क्या बताऊँ—कैसे दिन गुज़रे। रात में तारे गिनता और दिन में छत की कड़ियाँ। बस, रात और दिन लगा दिन गिनने। एक-एक दिन पहाड़ हो गया। दुख के दिन काटे नहीं कटते। सुबह है तो शाम की धुन! शाम है तो सुबह की धुन! आँखों में वह तसवीर फिरती रही। उसे देखा करता और लिखा करता।

"तीन माह कट गए—खुदा-खुदा करते या उमा-उमा करते। उस दिन जाने क्यों सुबह से ही एक बेकली-सी थी। जी लगे नहीं। एक अजीब आलम। एक अनजान उदासी। तीसरे पहर ख़बर आई कि उमा सख्त बीमार है। ससुराल से मेरी तलबी है।

"काटो तो खून नहीं। कलेजा धक-धक कर उठा। एक-एक धड़कन घोड़े की टाप-सी बजती। आखिर इक्के से चल दिया। थोड़ी ही दूर गया होगा कि वह आँधी-पानी—वह तूफान कि जान के लाले पड़ गए। मुझे तो इस तूफ़ान की ख़बर न थी। मैं खुद तूफ़ान हो रहा था। मगर अंधेरे में न घोड़ा चल सका, न रास्ते का पता था। आख़िर किसी गाँव के किनारे एक दूकान पर रात बिताने की ठहरी। कोई चारा नहीं। करता क्या? उतर पड़ा। और उन्हीं भीगे कपड़ों में चटाई पर लेट गया। कहाँ का खाना, कहाँ का पीना! आँधी का वह ज़ोर कि दुनिया को उलटकर धर दे। नींद तो आई नहीं। आधी रात के बाद मैं भरमने जो लगा, तो देखता हूँ कि फ़ाख्ते का वही जोड़ा उमा को चोंच और चंगुल में थामे आसमान पर उड़ा जा रहा है। उमा की मिन्नत-भरी आँखें मेरी आँखों में ज्यों ही पड़ीं कि मैंने लपककर उसे पकड़ना चाहा। मगर न जाने वह कहाँ उड़ गया—मेरी पहुँच के बाहर। हठात् बिजली जो कड़की तो आँखें खुल पड़ीं। पसीना छूट रहा था। दम-में-दम नहीं........और भाई! सुबह ससुराल पहुँचकर देखा कि उसकी जान आँखों में है—बस, उसी तरह आँखों-आँखों में—"

देवी बाबा एकबारगी टूट गए। ज़बान तालू में लग गई। उनका सिर बेतरह हिलने लगा। हाथ काँपने लगे। गला सूख आया। तालाब से दो चुल्लू पानी पी एक नीम के तने के सहारे लेट-से गए। फिर ज़रा स्वस्थ होकर बोले—

"हाँ भाई, वह तो चली गई, पर उसकी चितवन की अनी कलेजे में चुभी रह गई। आज भी वह ज्यों-की-त्यों है। मैं तो उसी दरार के आधार पर जी रहा हूँ। मेरे जीवन का तमाम संचय बस, वही एक उड़ती झलक है—चितवनों का एक चारु चुंबन! यही नहीं, मेरी तमाम शायरी किसी की याद की टीस है। दिल में वह दर्द नहीं होता तो मेरी वाणी फूट पाती? वह दिल की लगी आठो पहर साथ न होती तो मैं क्या लेकर इस लंबी उम्र को खे पाता? भाई, जीते-जी हमें किसी पर मरना ज़रूरी है, वरना यह ज़िंदगी भी मौत हो जाती है। सच मानो, वह बराबर साथ न होती, तो यह चुलबुला दिल जवानी की आँधी में पहलू में चुप बैठ पाता? सौ बार मचल उठता और फिर अरमानों की अँगड़ाइयाँ मुझे कहीं का नहीं रहने देतीं। भगवान करे, यह ज़ख्म कभी भर न पाए। इसे ताज़ा रखने ही में कुशल है?........हाँ, एकाध बार ज़रूर मैं उसे पलभर भूल-सा गया। मेरी

शादी की चर्चा भी छिड़ी थी। मगर आधी रात मेरे सिरहाने आकर उमा वह दर्द-भरी आँखें लिए खड़ी हो गई। पूछने लगी—'तो क्या तुम मुझे भूल गए? मैं तो तुम्हें भूल नहीं पाती!'—और बस, मेरी बाछें खिल गईं।"

देवी बाबा फिर चुप हो गए। लगे आसमान पर देखने। थोड़ी देर गुम बैठे रहे। फिर हठात् बोल उठे—

"भला, मन की यह लगन तो देखो! मैंने किसी की बड़ी-बड़ी आँखों में देखा नहीं कि उमा की आँखें चट सामने आईं नहीं। कभी-कभी तो मैं औरों की आँखों में भी उन आँखों को पाता हूँ—औरों के गले की ध्वनि में भी उस आवाज़ को सुनता हूँ। और, इस देखने और सुनने में वह याद हो आती है और बस, लगता हूँ उसे देखने और सुनने!"

मैंने कहा—"मगर देवी बाबा, आप यह दर्द ढोते फिर रहे हैं। आपके चेहरे से तो किसी को पता नहीं चलता!"

"भाई! हमारे जीवन की सब से बड़ी साधना तो तभी है, जब आँसुओं से उभ-चुभ होते भी दुनिया की लाज में पड़ हम चेहरे पर बरबस एक हँसी का तुमार ढोते फिरते हैं। यह हास की छटा तो उन आँसुओं की घटा से भी कहीं सांघातिक है और ख़ासकर जब इस विश्व में हमारा कोई भी

ऐसा न हो, जिसके सामने उस हास के नक़ाब को उलट अपना आँसू गिरा सकें। इस हँसी की घटाटोप की बदौलत हमारे आँसू निकलने का रास्ता नहीं पाते और हम अंदर-ही-अंदर घुला करते हैं। उस बदनसीब को तो आठो पहर हँसमुख रहना पड़ता है, चूँकि वह अपना मुँह तो किसी के सामने दिखाने से रहा। काश, वह शर्म पीकर उसे दिखाए भी तो उसे आँखभर देखनेवाला है कौन?—उसकी आँखों से आँसू उठाना तो दरकिनार रहे। भाई, मुझे तो रह-रहकर लगता है कि छाती से उबलते हुए आँसुओं को एक तिलिस्मी हँसी की नोक से अंदर ठेल-ठेलकर आख़िर हम इस दुनिया में पाते हैं क्या—बस, एक झूठा नाम! मगर हाँ, हम नाम ही के लिए जीते हैं.......या मरते हैं!"

शाम हो आई। सामने सड़क पर खड़ी फिटिन के घोड़ों ने टापों की चोट से सड़क की पटरी पर गढ़े खोद डाले। गाँव के कौतूहली लड़के—शिकार का अंदाज़ न देख भैंसों के साथ घर की ओर मुड़े। घंटों खड़े-खड़े उकता-कर साथ आनेवाले सिपाही बंदूक की नाल से कारतूस निकाल कमर की पेटी में रखने लगे। लालसर का जत्था आसमान में चक्कर काट तालाब के एक कोने पर इत्मीनान से आकर बैठ गया। और देवी बाबा छड़ी टेक उठते हुए बोले—

"हाँ बाबू! बंदूक तो मैंने रख ही दी। आख़िर इन बेगुनाह परिंदों की जान लेने से फायदा? देखा न तुमने—आदमी जो कुछ भी करता है, वह एक दिन पलट-कर उसके ही सर पर आता है!"

धर्म की धाक आज कमी पर है। उसका ज़माना कुछ उखड़ा-सा दिखता है। समझ लगी है विश्वास की जड़ कुरेदने। अंधेरे में श्रद्धा चौकड़ी भरती रही। सजग बुद्धि के प्रकाश में वह सिटपिटा-सी गई है। जिस विभूति को बचपन से हम सुन या देख आए उसे मान लेने में पहले कोई द्विविधा न थी। आज हम उसे टटोल-कर देखना चाहते हैं कि इस परंपरा की तह में आदमी की नस-नस में बैठा डर और ढुलमुलयक़ीनी का कोई मायाजाल तो नहीं!

किसी के गले में रामनामे की चादर देख हम आज उसके चरणों पर सर नहीं रख पाते। पहले वह चादर ही काफ़ी थी। आज उसका वह आदर नहीं। किसी नुमाइशी विज्ञापन के बजाय हम आदमी के जीवन पर जाते हैं। आचार तो एक इश्तहार भी हो सकता है।

किसी अतीत में वह सरदार भले ही रहा हो, आज तो वह विचार का ताबेदार है। शिखा के बिल्वपत्र की धाक आज भी है, मगर कहाँ और किन लोगों पर ?

मंदिर की वह सनातनी मर्यादा रही नहीं। जो धाक है भी, वह उसकी लोकप्रियता की है—उसके चमत्कार की है। जभी तो आज वह श्रेय से अधिक प्रेय पर जाता है। उसकी नज़र हमारे दिल की तसल्ली या शांति भर ही नहीं—हमारी दो घड़ी की दिलचस्पी भी है। क्यों आज मंदिर का प्रांगण थियेटर का मंच बन रहा है ? जिस मंदिर में रूप-रस-गंध का आयोजन नहीं, उसके अधिष्ठित देवता के चमत्कार की चर्चा नहीं। राम और कृष्ण की कथा आज सुरीले गले और तबले का मुँह जोहती है। वह अभिनय की रंगीनियों को नहीं अपनाती, तो राम के कीर्त्तन के भी लाले पड़े रहते। धर्म को अपना बाज़ार गर्म रखने के लिए ज़माने की हवा का रुख़ देख अपनी नाव पर पाल बदलना ज़रूरी हो रहा है।

हाँ, जिस ज़माने की यह चर्चा चल रही है, उस ज़माने की हवा और थी। विश्वास का युग था—परंपरा का दौर। जिसे बाप-दादे सर और आँखों पर बिठा आए, उसे अपने सर पर—आँख खोल रखें या मूँद—बग़ैर रखे पनाह न थी। धर्म की भावना की

अगह विधि-निषेधों की शृंखला समाज पर धर्म के नाम से हावी थी और धर्म के हाथ थी विश्व की बागडोर। शिखा और यज्ञोपवीत के हाथ बड़े-बड़े नामी-गरामी भी कठपुतली सरकार थे। जो कलँगी उनकी बंदगी में झुकी नहीं, वह सर से उतरी नहीं तो सर पर चमकी भी नहीं। मंदिरों का रोब था। वह भी ऐसा कि उसके साये में हवा भी थर्राकर चलती रही। पुरोहित की सुलतानी थी और महंथ की मनमानी। समाज में दस-में-एक होने के लिए धर्म की ध्वजा सर पर ढोते फिरना ज़रूरी था। जिसे पंडे-पुजारी मानते उसे दुनिया मान देती। छाती पर तुलसी की माला रहे तो कोई यह नहीं पूछता कि छाती के भीतर उसकी कैसी निष्ठा है। माला-ही-माला-भर है कि मन में प्रेम की ज्वाला भी है। माला पर ही नज़र रख दुनिया उसकी श्रद्धा की टोह पा लेती रही। माला न होती, तो भक्त की पहचान क्योंकर होती! बाहर से वह बना नहीं, तो दुनिया समझती कि वह बन रहा है—है नहीं। वह तो किसी की तह तक उतरती नहीं—सतह पर तैरती रह जाती है। जभी तो चरित्र की वैसी पूछ नहीं—पूछ है आचार की। जो आचार का पाबंद नहीं, वह न घर का है, न घाट का। भीतर वह कुछ भी रहे, बाहर उसे दुरुस्त रहना ही है। जिसके ख़मीर में यह दुरंगी

चाल न थी, वह अक्सर बदगुमानियों का शिकार बन जाता रहा।

देवी बाबा मंदिरों के साये से फटके चलते रहे। उनके साथ न व्रत था न तीर्थ। धर्म पर आस्था ही नज़र नहीं आती। जब बाहर ही नहीं तो भीतर कब होगी? कभी वे खुलते भी तो न थे। बस, बाहर बराबर शून्य था। यह कुछ न होना ही उस ज़माने में बहुत कुछ होना था। नास्तिक का नाम पाना ही गर्दन में हाथ पाना था। वे कोई और होते तो शायद उस हाथ को भी पाते। मगर सरकार के निकट संबंधी होने की वजह वह नाम ही पाकर रह गए। काश कभी कोई उनसे छेड़ बैठता तो वे हँसकर फ़रमाते—

"काफ़िरे इश्कम् मुसलमानी मरा दरकार नेस्त
हर रगे मन तार गश्तऽ हाजते जुन्नार नेस्त।" *

और पूछनेवाला टका-सा मुँह लिए रह जाता।

---

* इश्क (प्रेम) के चलते मैं काफ़िर हो चुका हूँ, अब मुसलमानी से मुझे कोई मतलब नहीं। मेरी रग-रग आज तार बन गई है, अब जनेऊ की मुझे कोई ज़रूरत नहीं। यानी मैं तो प्रेम का पुजारी हूँ—किसी पंथ से मुझे क्या मतलब?

खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग बदलता है। मगर जब सब की देखादेखी भी उन्होंने अपना रंग नहीं बदला, तो लगे लोग उन पर कालिख लपेटने! काला कर कलूटा का नाम दे देना कुछ मुश्किल नहीं।

यह न था कि सनातन धर्म के खिलाफ़ वे कुछ नारे बुलंद करते हों या पंडे-पुजारियों की हुकूमत में रोड़े अटकाते चलते हों। हाँ, उस हुकूमत को वे अपनी श्रद्धा का ख़राज नहीं देते रहे। और जब उस कर की वसूली के लिए माँग होने लगी, तो लगे मजबूरी दिखाने। उनके पास अपना था ही क्या कि वे उस हुकूमत का आसरा रखते। मगर इस अभाव की दीनता पर भी जब माँग नहीं रुकी, तो उनकी ज़बान खिंच गई। कोई उनको छेड़ता नहीं, तो वे उसे मुँह में बंद रख लेते।

मैंने एक बार उनसे कहा भी कि उनके साथ और कोई झंझट न सही, मगर दिल के अंदर जो पीड़ा है, उसी की शांति के लिए वह धर्म की बाँह क्यों नहीं थामते? वे बोले—"नहीं भाई, उसके लिए आचार नहीं, विचार है। धर्म के नाम पर जिस सौदा का बाज़ार गर्म है, वह तो कोरा आचार है। वह किस दर्द की दवा होगा? आचार तो बहुत कुछ है, औरों के लिए; विचार ही भर है अपने लिए। धर्म के पुजारी हमसे आचार चाहते हैं। विचार से तो उनका

कोई मतलब नहीं। और पंडे-पुजारियों के तलवे धो-धोकर पीने से किसी के दिल का दाग़ धुलता नहीं। फिर झूठ-मूठ उनकी जूतियाँ सर पर ढोते रहें ? ना-ना, यह हम से न होगा !"

"तो मंदिर को ही अपनाइए ! भगवान की सेवा में तो शांति मिलेगी ?"

"सुनो बाबू ! उसे पत्थर की मूरत में ढूंढने के बजाय आदमी की सूरत में क्यों न ढूँढ़ा जाय ? पुजारियों के हाथ धक्के खाने से भी जान बची ! रह गई पीड़ा की शांति। सो तो भाई, मुझे उसे बुझाना नहीं है, जिलाकर रखना है। दिल की यह लौ बुझती है, तो दिल ही बुझ जायगा। वही तो इस ज़िंदगी की दिलचस्पी है। वही न होगी, तो मैं क्या लेकर जीऊँगा ?"

श्री लक्ष्मीनारायण के चौके का प्रसाद तो वे दोनों जून पाते रहे; मगर यह सुभीते का इंतज़ाम सिर्फ पेट ही की शांति के लिए था, उससे कुछ हृदय की शांति भी अभिप्रेत न थी। मंदिर के किसी उत्सव में भी जब वे शामिल न हुए, तो यह ढिठाई लोगों को चुभने लगी। पुजारीजी ने उनकी मरम्मत शुरू की। पहले तो वे टालते रहे, मगर जब चौबेजी सिर हो गए तो ऊबकर बोले—

"अरे भाई, मंदिर में क्या जायँ ? किसके लिए जायँ ?

वहाँ अपनी बिगड़ी सूरत दिखा भगवान को भी रंज दूँ! वैसे तो कोई मंदिर में जाता भी नहीं और जाता भी है तो कुछ माँगने। हमारे साथ माँगना ही क्या है?"

"क्यों? अपने लिए तो........"

"अजी वाह! है भी मेरे साथ कुछ अपना? हाँ, कभी-कभी सोचता हूँ कि भगवान ही के लिए भगवान से जाकर कुछ अर्ज़ करता।"

"वह क्या?"

"यही कि वह सब से बराबर बरतें जभी तो वह सब के भगवान हैं! यह क्या कि कोई तो उनके दर पर गले में हाथ पाता है और कोई उनके गले का हार! यह विभेद क्यों? जब सब के लिए उनका दरवाज़ा बराबर खुलता, तो मैं भी सब के साथ सर नवाने जाता। भाई, मैं बड़ों में शामिल रहकर जाने पर तैयार नहीं। आख़िर बड़ा होने का दावा ही मेरे साथ क्या है?"

"अजी साहब! सभी धान साढ़े बाईस पसेरी नहीं होता! पूर्व जन्म का संस्कार भी तो कोई चीज़ है न!"

"होगी कोई चीज़। मगर, इस पूर्व जन्म का जवाब मेरे पास नहीं है। ग़रीब बेचारा तो गया? वह पूर्व जन्म का सर्टिफ़िकेट कहाँ से लाए कि आपके देवता के दरबार में उसकी गुज़र हो!"

यह तो पहली छेड़ थी। छेड़-छाड़ चली। एक दिन तो मुठभेड़ ही हो गई।

मंदिर की सहन में कथा थी। हसब मामूल देवी बाबा अलग ही रहे। आरती जब दौर पर आई, तो वे कुछ दूर और सरक गए। रेज़गारियों से लदी थाली दूसरी ओर मुड़ गई।

चौबेजी से यह देखा न गया। वे चट उन पर सवार हो गए—

"क्यों मुंशीजी! देवताओं ने कुछ बिगाड़ा है आपका?"

"बिगाड़ा नहीं तो बनाया भी तो कुछ नहीं है!"

"उस दरबार में आप झाँकते ही कब हैं?"

"क्योंकर झाँकूँ? रसाई भी हो! मुफ़्त का पास तो कोई देगा नहीं और दलालों के लिए मेरे पास पैसे नहीं।"

"न सही पैसे, दिल भी तो नहीं है!"

"आप तो लोगों की जेब में हाथ डाल दिल टटोलते हैं। आपको पता कैसे हो? ग़रीब तो उसे छाती में रखता है।"

"हटो भी, मुँह में जितनी लंबी जीभ है, उसकी आधी भी कहीं छाती में श्रद्धा होती तो........"

"जी हाँ, नज़रें तो भगवान के चरणों पर चढ़ती हैं और जेब गर्म होती है आपकी! मालपूए तो भगवान को भोग लगते हैं और भोग पाते हैं आप! भला ऐसे भक्तवत्सल भगवान में आपकी श्रद्धा न होगी, तो होगी मेरी?"

"तो आपका क्या बिगड़ा जा रहा है?"—चौबेजी भूत हो रहे थे।

"बिगड़ने की बात भी तो है। मैं अपना नसीबा ठोकता हूँ। काश मुझे भी कोई एक आँख का अंधा, गाँठ का पूरा, कान का बहरा और ज़बान का गूँगा मालिक मिला रहता कि मैं उसके सामने से तमाम तर माल उठाकर ले जाता और वह टुकुर-टुकुर देखता—दम न खींचता—तो मैं भी आपकी तरह उसका गुण गाता और उसके चमत्कारों का इश्तहार हाथोंहाथ बाँटता।"

अब इस गरमा-गरम सवाल-जवाब के बाद हाथापाई की नौबत न आई यही ग़नीमत थी। वे सरकार के सरो-कारी न होते तो शायद उस ज़माने में पुजारियों का काफ़िला उनकी मूछों के एक-एक बाल निकालकर दम लेता।

देवी बाबा स्नान या तीर्थ में भी कभी गए नहीं। उनको ले जाने के लिए कहाँ-कहाँ के पंडों ने कोशिशें तो हज़ार कीं, मगर कभी बेचारे सफल न हो पाए। औरों ने तो कमान रख दी, मगर मथुरा के एक चौबे हाथ धोकर पीछे

पड़ गए। उनको अपनी ज़बान की मोहिनी पर नाज़ था। यमद्वितीया के स्नान के लिए यहाँ से कितने लोग जाने को तैयार थे। एक देवीलाल बराबर टालते चले आए। आख़िर जब दिन क़रीब आया तो चौबेजी पैंतरे पर खुले—

"क्यों मुंशीजी, आप ईश्वर को तो मानते होंगे?"

"हाँ भाई, नाम तो बचपन से ही सुनता आया हूँ। मगर वह रहता कहाँ है, पता नहीं।"

"मैं बताऊँ आपको—'मद्भक्ताः यत्र गायंते तत्र तिष्ठामि नारद।' तीर्थों में। मथुरा और वृंदावन—जहाँ हजारों मुँह से आठो पहर उसकी चर्चा रहती है। बस, समझ लीजिए कि इस मिट्टी पर स्वर्ग उतर आया है वहाँ। अच्छा, मुंशीजी, यह तो बताइए, स्वर्ग में तो आपका विश्वास होगा?"

"क्यों नहीं? आदमी तो उसी पर जीता ही है।"

"और नरक में?"—चौबेजी ने मुस्कुराकर पूछा।

"उसे तो आप ही जानते होंगे, मुझे पता नहीं।"

चौबेजी ज़रा झेंप-से गए, मगर फ़ौरन सँभलकर बोले—"अच्छा, यह तो कहिए, स्वर्ग की तो आपकी आकांक्षा होगी? तो उसी का मैं संदेश देने आया हूँ।"

"ओहो! वह स्वर्ग, जिसकी पुश्तैनी एजेंसी आपकी है! हाँ, आकांक्षा तो बहुत कुछ है, मगर वह मेरे किस काम की?"

"वाह ! यह अच्छी रही !"

"भाई, आपके स्वर्ग का जो बाज़ार-दर है, वह मुझ जैसे ग़रीब के लिए बहुत महँगा है।"

"तो आप सरकार से ही कुछ माँग क्यों नहीं लेते ? आपके लिए यह कौन-सी बड़ी बात है ?"

"बस, रहे आप यूँ ही ! अजी मँगनी के पैसे से कहीं पुण्य की खरीदारी होती है ?"

"होती है जी। आप इतमीनान रखें।"

"तो पहले आप ही स्वर्ग लें। आपके पास मुफ़्त का माल भी काफ़ी है। फिर आपकी देखा-देखी मैं भी खूँ लगा-कर शहीद बनने के लिए तैयार हो जाऊँगा !"

चौबेजी ने मुँह बनाकर कहा—"मैं समझ गया, हिंदू-धर्म में आपकी निष्ठा नहीं।"

"जी हाँ, आपका स्वार्थ और मेरा धर्म—क्यों ? मैं पूछता हूँ, आख़िर कब तक अपने स्वार्थ को परमार्थ का रूप देकर दुनिया को चराते चलिएगा ? एक दिन तो यह घड़ा फूटेगा ?"

× × × ×

उस दिन मैं ज्वर से उठा था। सत्यनारायण की कथा की मन्नत थी। शाम को कथा शुरू हुई। चौकी पर कमाची बाँध बंदनवार झूला। छोटे-से गंगा-जमनी

सिंहासन पर शालिग्राम! फूल-पत्तों की रविश रही। भोग-राग का सिलसिला। दस-बीस जनेऊधारी आए। दस-बीस बिरादरी। वैसे तो तमाशबीन जाने कितने थे। कथा का व्याख्यान मीठा न भी हो, कथा का सामान तो होता है मीठा। बस, समाँ बँध गया।

कह नहीं सकता, पंडितजी को क्या जल्दी थी। सभी अध्यायों पर दो-चार सेकेंड रुकती हुई, शंखों की फूँक की सीटी बजाती मेल ट्रेन की स्पीड से कथा आध घंटे में ख़त्म हो गई। लोगों ने जो ऊँघना शुरू किया था, जग पड़े। मालपूओं का दौर चला। मन्नत उतरी।

हठात् कहीं से देवी बाबा भी आ टपके। पंजीरी चाटते हुए मैंने जो मंडप के बाहर क़दम रखा, तो उनसे भेंट हो गई।

"क्यों बाबू! कथा सुन ली?"

"जी हाँ, सुन चुका।"

"अच्छा, कुछ हमें भी तो सुनाओ!"

मैं लगा उनका मुँह जोहने। मेरे कान में तो पड़े थे संस्कृत के कुछ अंड-बंड फ़िकरे। मुझे पता क्या था? मेरा मन तो पंजीरी की ताक में अध्यायों की दौड़ की मंजिल जोह रहा था। उस कथा के सिलसिले में किस बात का ऐलान था, यह तो शायद कथा कहनेवाले को

भी पूरा पता न होगा। वह कथा बाँच लेते थे, और बस। आख़िर कथा तो एक परंपरा की तामीली ठहरी! बीमारी से अच्छे होने पर जो दवा देता है, उसे कुछ देना ज़रूरी है और जो दुआ देता है, उसे भी। और, जिसकी कृपा मुझे चंगा बनाने में कारगर हुई, उसके गुणों का कीर्त्तन भी एक ज़रूरी फ़र्ज़ है। आख़िर उसकी कृपा के एवज उसे भी तो कुछ नज़र करना है। वह तो कुछ माँगता नहीं, मगर हाँ, उसके हाली-महाली तो दुनिया से परे नहीं।

देवी बाबा पंडितजी की ओर मुड़ गए—

"पंडितजी! आप ही पढ़ें और आप ही समझें, यह भी कोई कथा है? आप संस्कृत में न कहकर हिंदी में ही कुछ भगवान की महिमा सुनाते, तो बच्चे पर भी असर होता, हमलोग भी कुछ समझ पाते!"

"भला मुंशीजी! आपको पता भी है कि देवभाषा है संस्कृत!"

"हुआ करे वह देवभाषा। हमारी भाषा तो कुछ और है! और कहीं भगवान की भी अपनी कोई ख़ास भाषा है? वह तो बस, हमारे दिल की भाषा समझता है।"

"आप तो उसे फ़ारसी के स्तोत्र सुनाते होंगे न! हाँ, और सुनाएँ—अच्छी सुनवाई होगी........"

देवी बाबा कुछ जोश में आ गए।

"वह फ़ारसी भी समझता है और संस्कृत भी—बशर्ते कि आपके दिल से वह उठती हो, ज़बान से नहीं। और वह क्या समझता है, क्या नहीं समझता—इससे कहीं ज्यादा ज़रूरी यह है कि हम-आप क्या समझते हैं? जिसे आप खुद नहीं समझ पाते, उसे आप उसको कहाँ तक समझा पाएँगे। मैं तो समझता हूँ, आपकी तमाम पाठ-पूजा संस्कृत के बजाय हिंदी में होती, तो कहीं पुर-असर होती। हम अपनी आरज़ू उसके सामने अपनी टूटी-फूटी ज़बान में रख तो पाते! किताबी बोली तो कभी मेरे दिल की लगी न होगी!"

"यह लो! हिंदी में भगवान की आराधना! आपकी जैसी समझ है, वैसी ही आपकी गति भी तो हो रही है!"

"जी हाँ, इतनी समझ मुझे है कि आपको तो भगवान को हमारी पहुँच से दूर अपनी झोली में बंद रखना है और उसे जब-तब बड़े तपाक से संस्कृत की बोली पर दुनिया के सामने नचाते फिरना है, ताकि आपके मंत्रों की धाक जमी रहे। वह कहीं खुद मैदान में उतर हर किसी से मिल-जुल उनकी फरियाद सुनने लगा, तो फिर आपकी पूछ किस बात के लिए होगी? इसी ज़बान की दीवार खींच आपने उसे हमसे दूर कर रखा है। जभी तो फाटक की कुंजी पुश्त-दर-पुश्त आपकी जेब में चली आई है।"

अब इस व्याख्या के बाद देवी बाबा के कंठ की नाली के भीतर भगवान के चरणामृत की एक बूँद भी नसीब होना तो संभव नहीं था—प्रसाद का दोना तो दरकिनार रहे। उनका यह कहना कि वे इस बूँद की टोह में कोई चातक नहीं हैं, उनका जामेकौसर कुछ और है—भक्तों के पाँव-तले से एकाएक ज़मीन का सरकना था। बस, ब्राह्मणों ने उच्च स्वर से यह फतवा दिया कि यवन-संस्कृति की वैतरणी में डूबकर देवीलाल एकबारगी पाताल में धँस चुके हैं। और, देवभाषा और देवताओं के अपमान का अंजाम कुछ दिनों में उनके तमाम शरीर से फूटकर नहीं निकला, तो भगवान की बड़ी करुणा होगी ! ग़नीमत थी, उनलोगों ने कोई और तूमार नहीं बाँधा। बस, यह शुभ कामना जताकर अँगोछे में प्रसाद बाँध दक्षिणा की ओर रुख़ किया। मगर धर्मध्वजी गुरू महाराज तो इस अनर्थ के सामने आँखें मूँद नहीं सकते थे। पाँव-पूजा की गिन्नी और धोती चटपट एक चेले को सुपुर्द कर इस ताव से खड़ाऊँ चटखाते मैदान में आए कि तमाम मजमे को खटका लगा कि कहीं हाथ में जनेऊ थाम वहीं शाप देकर देवीलाल की धुस्सियाँ उड़ाकर न रख दें ! शायद मन के म्यान से तलवार खींचने के वक्त उनको एकाएक यह झलका कि यह आदमी सरकार का नातेदार है। और हाथ मूठ पर आकर रुक गया।

देवी बाबा

गुरुजी हमारे खानदानी गुरु-घराने के एक निर्द्वंद्व उत्तराधिकारी थे। उनको भी संस्कृत से तो कोई वास्ता न था, गो सनातन संस्कृति के वे कट्टर भक्त थे। हाँ, देवताओं के रिझाने के सधे-बधे मंत्र उनकी उँगलियों पर थे। मंत्रों के अर्थ से तो कोई सरोकार था नहीं, जो सरोकार था वह मंत्रों के रोजगार के अर्थ से।

बूढ़े वे ज़रूर थे, पर तृष्णा बूढ़ी न थी। मेरे पिता को गुरुमंत्र देने के लिए उनके ईमान के इर्द-गिर्द बरसों मँडराते रहे। खानदानी हक़ उनके साथ था। पर पिता की दृष्टि में हक़ की बात कुछ और थी। मेरे पिता शील के समुद्र तो ज़रूर थे, पर विचार भी अगस्त की तरह उस सागर के तट पर बराबर मौजूद था।

आखिर जब उनकी ठान ज़ोरदार होने लगी तो मेरे पिता ने टालना चाहा कि देवी मामा हम सब में बड़े हैं, उनकी दीक्षा तो पहले हो जानी ज़रूरी है। बस, वे इनके सिर हो गए और बातों के सिलसिले में लगे जो समझाने कि जब तक कोई गुरु कान में मंत्र नहीं देगा तब तक किसी के हृदय का अंधकार दूर नहीं होगा कि देवी बाबा एक बारगी उबल-से पड़े—"और क्या! मुर्ग़ बाँग न देगा, तो सबेरा ही न होगा!"

बात वहीं-की-वहीं कट गई। अब आगे चलने की गुंजाइश ही न थी!

हाँ, जब पिता के कान तक उनकी पहुँच नहीं हो सकी—दिल तक जाने का तो सवाल ही न रहा—तब मेरी दादी के कान भर वे मेरे एक और संबंधी के कान पर उतर आए। पीली धोती और पीली अशर्फी तो बँध गई, पर उनकी नज़र तो अशर्फियों के परे ज़मीन की ज़रखेज़ी पर थी। उम्मीद उनकी बनी रही और भगवान की मर्ज़ी, एक दिन पूरी भी हो गई। यह बात और है कि मेरे पिता के कानों तक उनकी पहुँच उस छन हुई, जब उन कानों की राह कोई आवाज़ जाने की गुंजाइश ही न रही। इधर कानों के पास उनका मुँह पहुँचा, उधर आँखों की राह उनकी रूह उड़ गई।

इस मंत्र की फूँक से पिता की गगनोन्मुखी आत्मा किस दिव्यलोक की ऊँचाई पर उठ सकी, मुझे पता नहीं। पर हाँ, गुरुवर की आत्मा इस परंपरा की तामीली की वजह ख़ानदानी मर्यादा की ऊँचाई पर ज़रूर पहुँच आई। सरकार न रहे, पर सरकारी गुरु होने का गुरुत्व तो उनको मिल ही गया। उस हाहाकार के हंगामे में ज़मीन की माँग पेश करना तो संभव न था। बस, माँग की बुनियाद पड़कर रह गई।

हाँ, तो गुरुजी शाप देने से तो रह गए, मगर उसी तैश में मेरे पिता के रू-ब-रू जाकर देवी बाबा की विषमयी प्रवृत्तियों के कच्चे चिट्ठे खोलकर धर दिए। साथ-साथ

यह मशहूर पद भी सुना दिया, जिसे गोस्वामीजी ने मीरा के पत्र के जवाब में लिखा था—

"जाके प्रिय न राम वैदेही !
तजिए ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही।"

उनका यह मंतव्य था कि जो कुलांगार अपना घर फूँक अपनी बहन के कुलीन कुल के कलाधर के पीछे राहु बनकर पड़ा है, उसके साथ मुरव्वत कैसी ? जब वह खुल्लम-खुल्ला धर्म का विरोधी है, तो उसके लिए किसी की आँख में पानी क्यों ? आखिर हमारे पूर्वजों के पुण्य पर संजोई हुई लक्ष्मी कहाँ तक इस अनर्थ को सह सकेगी ?

मेरे पिता ने यह कहकर कि वह बुरी तरह क़िस्मत के हाथों झँझोरे न गए होते तो उनकी ज़बान पर ऐसी क्रांति की लौ न उठती—उस प्याले के तूफ़ान को ठंडा करना चाहा। बातें करते साथ-साथ बाहर गए और गुरूजी की बगल में हाथ दे पालकी पर सवार करा अंदर लौटे।

देवी बाबा आँगन में ही थे। मेरे पिता ने कहा—"देवी मामा, आपको पता नहीं, मैं आपकी बहस सुनता रहा। आज लोगों में श्रद्धा की कमी नहीं, कमी है समझ की। श्रद्धा के साथ ज्ञान का योग नहीं, तो वह श्रद्धा भी अंधी है।

आज पद्धति के आगे अनुभूति का कोई मोल नहीं। सत्य की तो पूजा नहीं होती, पूजा होती है उसकी एक कथा की पद्धति की। सत्य को किसी संप्रदाय की पद्धति में बंद कर देना उसका जौहर निकालकर धर देना है। बस, कथा भी एक रस्म की तामीली ही रह गई है। वह न हमारी बुद्धि को छूती है और न हृदय की तह तक पहुँच पाती है।"

"हाँ, दो घड़ी की दिलबस्तगी भी तो नहीं रही! अव्वल तो कलावती कन्या का क़िस्सा सुनते-सुनते कान पक गए! जब सुनो, वही पुरानी घिस–घिस। कोई उस सत्य पर नए पहलुओं से रोशनी डालता, तो कथा सुननेवालों की आँखें झिपने के बजाय खुल पड़तीं। उस क़िस्से में जो एकाध बूँद तत्त्व है भी तो उसे कोई साफ़ तौर से समझता ही नहीं। बस, पंडितजी अंड–बंड संस्कृत में न जाने क्या बक गए और कथा हो गई। ज़बान में भी कोई मिसरी......."

"क्यों देवी मामा! बग़ैर किसी मिसरी की मिठास के ही लोग टूटकर आते हैं?"—पाठकजी ने हँसकर कहा।

"पाठकजी! वह मिसरी आपके प्रसाद की पंजीरी है, कुछ कथा की माधुरी नहीं।"

मेरे पिता ने कहा—"देवी मामा! यह सच है कि संस्कृत के जरिए हम न जनता तक पहुँच पाते हैं और न दिल की बात भगवान तक ही पहुँचा पाते हैं। उस ज़बान में

न हम गा ही पाते हैं, न रो ही पाते हैं। मगर हाँ, एक ही पहलू ग़ौर करने का है। संस्कृत हिंदू की निजी दुनिया में एक ख़ास जगह रखती है। उसे हम धार्मिक बातों के दायरे से भी अलग कर दें, तो फिर कोई उसे कभी भूलकर भी पढ़ेगा? वह यों ही इने-गिने लोगों में रह गई है—रोटी के ही लिए सही—फिर भी हिंदू-जीवन की आत्मा उसी में क़ैद है। भगवान को तो जो कुछ समझना होगा, वह समझ ही लेगा। उसे समझाने के लिए तो शायद किसी भाषा की मदद की ज़रूरत ही नहीं। आख़िर मौन में जो व्यंजना है, वह वाणी में कभी मुमकिन नहीं। मगर लोगों के दिल पर संस्कृत का एक असर है। उस असर को हम मिटाते हैं, तो उसकी जगह आख़िर रखते क्या हैं? इसीसे कहता हूँ, मसला ज़रा पेचीदा है—क्यों?"

देवी बाबा उस बला से तो छूटे, पर उनकी क़िस्मत जो उनको दम लेने दे! दस दिन बाद एक नया गुल खिला।

मुझे तो कुछ पता न था, पर दरबारियों की टोली में कुछ सनसनी-सी नज़र आई, तो मेरे कान खड़े हुए। यह एक दस्तूर-सा था कि सुबह ही हम दोनों भाई पिता के रू-ब-रू जाकर उनके चरण छूते। फिर दस-पाँच मिनट अपनी जगह पर दरबार में बैठ हाथ जोड़ आज्ञा ले पढ़ने के कमरे में वापस होते। मैं हसबमामूल चरण छूकर बैठा

ही था कि देखा, देवी बाबा भी वहाँ मौजूद हैं। मन में शंका उठी—वे तो बे-बुलाए कभी आते नहीं। बात क्या है!

हठात् मेरे पिता ने हँसकर पूछा—"क्यों देवी मामा! यह किस नए कूचे में क़दम रखा है आपने?"

देवी बाबा मुँह पर रूमाल रख हँस दिए।

"अरे भाई! तफ़रीह की तलाश थी तो कहीं और रुख़ करते। हाँ, पाठकजी! आप भी तो साथ थे?"

"जी हाँ सरकार! क़सूरवार तो हम ठहरे। देवी मामा को साथ घसीट ले गए।"

"ओ हो! गज़लें सुनाने? तो उमर ख़ैयाम की रुबाइयों से विवाह की पद्धति चली?"

"वो हुआ क्या? बेटेवाला और बेटीवाला—दोनों एक तरह यजमान ही ठहरे। निरे गँवार। लिख लोढ़ा पढ़ पत्थर! था भी निछक्का देहात—दो कोस पच्छिम। बाराती भी सब भुच्च देहाती रहे। मैं तो दूल्हे की ओर रहा। आख़िर लड़की की तरफ़ किसे रखता? चौबेजी से कहा कि चलिए, तो उनको फ़ुरसत न थी। विवाह का लग्न क़रीब था। कोई और मिला नहीं। देवी मामा के सर पर पगड़ बाँध बिठा दिया!"

"धन्य हैं आप! तो फिर शादी कैसे हुई?"

"बस, जैसे होती है! मंडप में कोई जानकार तो था

नहीं। रस्मों का जानकार मैं था ही। न सही पंडित, वैसे कौन अनाड़ी हूँ? कितनी शादियाँ चुटकी बजाकर करा डालीं! रह गया मंत्र पढ़ना। संस्कृत न भी पढ़ा हूँ, तो कोई मुज़ायका नहीं। कोई पंडित तो वहाँ था नहीं जो कान थामता। बस, शान से कुछ पढ़ते रहना चाहिए—हाँ, बात ऐसी ज़रूर हो, जिसे और न समझें। कुछ फ़ारसी की गज़ल के टुकड़े—संस्कृत के एकाध टूटे-फूटे श्लोक—मंगला काली, भद्रकाली वगैरह; वह हुज़ूरवाले बंगाली गीत की दो-तीन लड़ियाँ और बस, जैसे-तैसे काम चल गया। दूल्हा और दुलहिन तो कभी कुछ ख़ाक समझते नहीं। उनको कुछ समझाने का दस्तूर भी नहीं। माँग पर सिंदूर रखा, भाँवरें पड़ीं—और शादी हो गई! मैं मुँह बनाकर बराबर कुछ अंट-शंट कहता रहा।"

"आप तो ठहरे ब्राह्मण, कुछ भी करें, सौ खून माफ़! मगर देवी मामा के लिए तो यह ओखली में सर देना ठहरा! कहीं बात फूटी, तो नाहक़ एक क़िस्सा खड़ा होगा! चौबेजी लाल-पीले हो रहे हैं।"

"चौबेजी को तो शिकायत की कोई जगह नहीं।"

"सो क्यों?"

"हम तो इस मामले में उन्हीं के मुरीद ठहरे।"

"ऐसा?"

"और क्या हुज़ूर !"

"मगर उन्होंने ही तो आसमान सर पर उठा रखा है ! तो आप पर तो कुछ आएगी नहीं, बेचारे देवी मामा बैठे-बिठाए एक मुश्किल में पड़ेंगे; वैसे ही बदनाम ठहरे ! उस कथा के दिन जो तमंचे तने थे, सो आपको पता होगा ही ! हाँ, देवी मामा वहाँ निभे कैसे ?"

"मज़े में रहे, हुज़ूर ! हाफ़िज की ग़ज़लें तो थीं ही, कुछ पश्तो—कुछ अँग्रेजी की बुकनी—संस्कृत के दो-चार छींटे, कुछ यों ही अल्लम-गल्लम—बस, जैसे-तैसे चल गया !"

"कमाल करते हैं आप ! और गोत्रोच्चार के वक़्त ?"

"क्यों, सिकंदर का कुर्सीनामा काम दे गया !"

मेरे पिता हँसते-हँसते लोट गए ।

"अच्छा ! यह तो हुआ, मगर चौबेजी तो बेतरह—"

चौबेजी वहाँ मौज़ूद ही थे । चुप बैठे सुन रहे थे ।

"वाह ! मजाल है उनकी ? मैं उनका भंडाफोड़ कर रख दूँ तो ?"

"सो क्या ?"

"हुज़ूर ! वे भी तो ठहरे हमारी ही तरह अनाड़ी । संस्कृत तो बस, यों ही जानते हैं । अंग्रेजी या फ़ारसी की तालीम भी रहती, तो एक रोब जमाकर निकल आते । आख़िर पूजा-पाठ में संस्कृत की तलाश क्यों है ? हिंदी-

बिंदी से तो रोब नहीं जमता, न लोगों में श्रद्धा ही उपट पाती है। घर की मुर्ग़ी दाल बराबर। और संस्कृत से एक समाँ बँध जाता है। जो बात समझ में नहीं आती, उसे हम देवता की बात समझकर सर झुका देते हैं। संस्कृत की शान निभती है—चूंकि वह जनता की समझ के परे की वाणी है।

"आज दस दिन की बात है, चौबेजी चले एक गँवार के घर ब्याह कराने, तो और कुछ तो आया नहीं, लगे रामायण की चौपाइयाँ कहने। गो गँवारों की मजलिस ज़रूर थी, फिर भी गँवारों में ही तो रामायण की खपत ठहरी। एक जानकार निकल आया। मैं उसके तेवर पर बल पड़ते ही ताड़ गया कि हवा किस रुख़ पर जा रही है। उसने टोक ही तो दिया—'का साहेब! ई तो रामायणजी हईं?' मैंने कहा—'और क्या! राम के ब्याह से चलते हैं न?'—और बस, चट चौबेजी के मुँह से कलाम छीन लगा पंडितों की तरह ज़बान ऐंठ और हाथ फेंक हाफ़िज की गज़ल पढ़ने। बस, जम गया रोब। वह तो कहिए लोगों ने समझा कि ये वेद के संस्कृत के मंत्र होंगे, नहीं तो हमलोग कहीं के नहीं रह पाते। ऐसे वक्त आदमी को ज़रा दिलेर-दबंग रहना ज़रूरी है।"

देवी बाबा ने मेरी तरफ़ रुख़ कर कहा—

"भैया, वह अंग्रेजीवाला पद तो चौबेजी को सुना दो, जिसे मास्टर साहब उस दिन समझा रहे थे—शीशे के मकान में रहनेवालों को किस तरह हाथ रोककर रहना चाहिए।"

"Those who live in glass houses, should not throw stones!"

मैंने पिता का रुख़ देख उसे समझाने की कोशिश की, तो चौबेजी स्याह हो गए। एक बार जलती आँखों से देवी बाबा को घूरकर देखा और चट उठकर चल दिए।

चल तो दिए, पर उनकी ऐंठ गई नहीं। पाठकजी से ज़ोर आजमाने की तो उनमें हिम्मत न थी, मगर देवी बाबा पर हाथ साफ़ करने का वे दाव ढूँढ़ते रहे। आख़िर एक दाव सूझ ही तो गया।

मैं यह कहना तो भूल ही गया कि देवी बाबा सरकारी चौके में नहीं खाते रहे। यह न था कि खाने-पीने की वज़ेदारी से उनको परहेज़ था। कलिया भी खाते, प्याले भी ढालते। मगर यही कि कभी किसी दावत के दिन एकाध लुक़मे चख लिए, दो-चार चुसुक पी लिया। यों तो पुलाव और मुतंजन के वे पारखी थे। पतीलियों की उठती बू से वे भाँप लेते कि बिरियानी किस आँच पर पकी। बोतलों की गुलाबी प्याले में पड़ी नहीं कि उसकी बारीकियों का पता

कोई उनसे पूछता ! रंग देखा और उसका जौहर खोलकर रख दिया।

मेरे पिता को खाने-खिलाने का शौक़ रहा। जो खाना पकता, वह नफ़ीस और नाज़ुक। कश्मीरी बावर्ची थे जो घी और केसर की होली खेल हाज़मे को तबाह कर धर देते। उसी नफ़ासत का मारा मैं आज तक आदमी की दुनिया में लौट नहीं पाया। भूख के लाले पड़े रहते हैं। खाना भी अफ़रात रहता। दस-पाँच की गुंजाइश तो मज़े में थी। वह भी कुछ गिनी-चुनी रोटियाँ नहीं, न नपा-तुला शोरबा। देवी बाबा के लिए तो कोई बात ही न थी। वे अपने साथ भी दो-चार को मज़े में खिला पाते। मेरे पिता ने सैकड़ों बार आग्रह भी किया कि देवी मामा ! आपका अपने हाथों रोटी सेंकना मुझे दुनिया के सामने नंगा कर रखना है। मगर वे हँसकर टालते ही चले गए। अपना अलग कुछ रूखा-सूखा एक जून पकाकर पेट पाल लेते। हाँ, जब उनके खाने के वक़्त मैं पिता की मिन्नतों के साथ एकाध नफ़ीस चीज़ें अपने हाथों लाकर मचल पड़ता, तो वे बड़े शशोपंज में पड़ जाते। एकाध लुक़मे गले से उतारना ही पड़ता।

कुछ और खाने की ज़िद करता, तो हाथ जोड़ कहते—"भैया, तुम्हारा ही खाता हूँ ! यही बहुत है। आखिर

लहरी तबीयत की रंगीनी तो छूटती नहीं, नाज़ुकख्याली भरी पड़ी है। अब ज़बान की भी रंगीनी चली, तो मैं कहीं का भी रह न पाऊँगा !"

मगर कुछ ही दिनों बाद वे श्री लक्ष्मीनारायण के चौके में दोनों जून प्रसाद पाने लगे। अब प्रसाद के साथ तो कलिया वगैरह चलना मुमकिन नहीं था। बस, वक़्त-फ़वक़्त उनके सिर होकर हमलोग जो कुछ चटपटे खिला भी देते, तो उसका भी सिलसिला एकबारगी टूट गया।

बगुला भगत का नाम पाना उनको क़बूल था, मगर एक अमीर रिश्तेमंद के दस्तरख्वान का पालतू पिल्ला बनकर अकड़ते रहना उनके लिए मौत थी। वह क़िस्मत के हाथों इस बेरहमी से जख्मी न होते, तो कभी संभव था कि वे हमारे दर पर बैठ रोटियाँ तोड़ते ? ज़बान को उन्होंने दिल की तरह कसकर मुट्ठी में रखा। आँख का पानी जब ढला ही नहीं, तो मुँह में पानी भरता कैसे ? उठती जवानी की किसी भी वासंती लालसा को उन्होंने जीवन की सतह पर कभी उभरने नहीं दिया। हाँ, शायद शायरी की रंगीनी में समाकर वह एक जगह न बना लेती तो मुमकिन है, कहीं और फोड़ नासूर बना देती।

हाँ, तो श्री लक्ष्मीनारायण के पुजारी उन दिनों चौबेजी ही थे। और वहीं के प्रसाद पर देवी बाबा की जिंदगी

खड़ी थी। दिन का भोग कच्चा लगता—भात-दाल। रात में पूरियों का दस्तूर था। गढ़ के जिस कोठे पर श्री लक्ष्मी-नारायण का मंदिर है, ठीक उसी के तले देवी बाबा का घोंसला रहा। इसीलिए इस इंतज़ाम से उनको काफ़ी सुभीता था। दिन में तो वे चौके में खा लेते। रात को मंदिर का टहलुआ प्रसाद की पूरियाँ दे जाता।

देवी बाबा ने देखा कि पूरियों की संख्या एक-एक कम होने लगी। यों कहिए तो कभी वे उनके हक़ के बराबर नहीं थीं। मगर उस थोड़ी-सी कमी की कोई परवा न थी उन्हें। पुजारी ने लिया तो क्या, टहलुए ने लिया तो क्या—दोनों बाल-बच्चेवाले ठहरे। हाँ, जब पूरियाँ पाँच से उतरकर दो पर आ गईं, तो दिलदारी के साथ-साथ पेटदारी का निभना कठिन हो गया। इतनी समझ उनको थी कि ये पूरियाँ किसी टहलुए की आँतों में कभी गल-पचकर हवा न होंगी, ये जब जगह लेंगी तो किसी पेटी पड़ी तोंद में ही लेंगी। टहलुए से पूछने पर भी जब भेद खुल न सका, तो आख़िर आँतों के उत्पात से तंग आकर उन्होंने पाठकजी के सामने इस क़िस्से को छेड़ा—"आज कल तो ठाकुरजी की हम पर कुछ ख़ास कृपा है पाठकजी!"

"तो आख़िर हम भी सुनें!"

"बस, कुछ न पूछिए! हमें भगवान का साक्षात्

जूठन मयस्सर है। वे चुपके सिंहासन से उतर खुद भोग पाते हैं!"

"ऐसा? तो फिर आप कृपा पीकर ही जी रहे हैं?"

"अभी तो पूरी कृपा नहीं हो पाई है। भक्तों के लिए एकाध टुकड़े प्रसाद तो छोड़ ही जाते हैं। जभी तो जूठन मयस्सर है!"

" तो भाई, मैं भी तो एक भक्त ठहरा। आज से मैं भी सीधा वहीं भिजवाए देता हूँ।"

पाठकजी ने भी सरकार को इत्तला कर अपना सीधा बाबा लक्ष्मीनारायण के ही चौके में भिजवा दिया। दो साथी और भी आ जुटे। चौबेजी को लेने-के-देने पड़ गए। गरमी के दिन में इतने लोगों के लिए चूल्हे की आँच पर पककर पकाना खेल न था। और जब भगवान के भोग के बाद सब-के-सब एक साथ खाने बैठते तो किसी के थाल में पूरियाँ कम होने की गुंजाइश न थी। आखिर उनको प्रत्येक को बराबर देना पड़ा।

देवी बाबा ने हँसकर मुँह बनाया—"यह लीजिए, आप ऐसे पातकी आए कि भगवान ने हाथ ही समेट लिए। तमाम पूरियाँ धरी रह गईं। कुछ दिन और भी वह कृपा बनी रहती—"

"तो आपको सीधे स्वर्ग ही पहुँचाकर दम लेती!"

सब हँस पड़े। चौबेजी झेंपते उठ गए।

कुछ ही दिनों के बाद भगवान के तमाम सोने-चाँदी के जेवर गुम हो गए। साथ-साथ चौबेजी भी लापता हो गए। ज़माना हो गया। आज तक न चौबेजी का पता है, न जेवरों का।

जो परान्नजीवी है—ख़ासकर एक रिश्तेमंद के घर—वह छाती में दिल रखे, तो कोई मुज़ायका नहीं; मगर उसके मुँह में एक तीखी ज़बान का रहना तो कुलीनों की सहनशीलता को चुनौती देना है। जिसकी रोटी की ख़ाक झाड़कर हम जीते हैं, उसकी तीती बात हम जी जाँतकर भले ही पी लें, पर उसके टेबुल के टुकड़ों पर पला हुआ कुत्ता जब गुर्राकर भूँकता है, तो जी चाहता है कि उसकी गर्दन मरोड़कर धर दें। वह पते की बात ही क्यों न कहे, मगर कहनेवाला है वह कौन? वह आइने में अपना मुँह देखे, मुँह में अपनी ज़बान रखे, वरना हम उसे खींचकर धर देंगे।

यों तो देवी बाबा कभी कुछ कहते भी न थे। आदमी खरतल ज़रूर थे। दो-टूक बातें सुना देते। मगर तभी जब बग़ैर कहे उनका दम घुटने लगता। हाँ, सरकार से

जाकर जड़ें और जड़कर किसी की रोटी पर तूफ़ान खड़ा करें, यह तो उस ग़रीब के सर पर सरासर झूठा इलज़ाम था। यह सच है कि पुजारी-पंडों का कुनबा उनसे बराबर खिंचा रहा। राज के कर्मचारियों का काफ़िला उन्हें फूटी आँखों भी नहीं देख पाता रहा। यह डर था कि यह आदमी अक्खड़ है—जाकर सरकार के सामने बरस पड़ेगा। तब बदनाम कर इसके दाँत तोड़ दो कि अगर यह डँसे भी, तो किसी पर ज़हर न चढ़ सके। जहाँ 'तू कह मेरी, न मैं कहूँ तेरी' की संगीन गुटबंदी है, वहाँ कोई कंधा झाड़ फटका रहता, तो उसकी गर्दन में हाथ दे पाँक में गाड़ रखना रियासती दुनिया का चलता दस्तूर है। उनको रियासत के दायरे से निकाल देना तो मुमकिन न था। वे जाते कहाँ? कोई मुलाज़िम तो थे नहीं कि ज़बान की नोक से उन्हें उठा दिया जाय। ग़रीब ही सही, आख़िर एक रिश्तेमंद तो थे। फिर छोटी-मोटी बदनामियों के तले दफ़न कर रखने के सिवा दरबारियों के तरकस में कोई तीर भी तो न था।

कर्मचारियों से न बनने की एक ख़ास वजह भी थी। उनकी किसी करतूत पर वे आँख तो दिखाते न थे, पर आँख भी मूँद नहीं पाते थे। चट टोक बैठते। यह टोकना ही बर्रे के छत्ते में छड़ी घुसेड़ना था। उनके मिज़ाज में नरमी चाहे न हो, उनके दिल में तो नरमी भरी पड़ी थी।

मैंने एक दिन देवी बाबा से कहा भी था कि देवी बाबा! आपकी शिकायत सुनते-सुनते तो कान पक गए। आप नाहक लोगों को जवाब दे बैठते हैं।

"तो भाई लो, होंठ सीकर रखे लेता हूँ! मुझसे बढ़-कर मेरा दुश्मन कोई दूसरा न होगा। मैं अपनी ही नज़र में गर्द हो रहा हूँ। आखिर कोई बेबस भी किसी की नज़र में कभी बस पाया है? यह ठहरी रियासती दुनिया! यहाँ सच बोलना तो मार खाना है।

"और झूठ बोलना?"—मैंने हँसकर पूछा।

"माल खाना·······और डरता है वह, जिसकी छाती में लालच है या डर। मेरे साथ तो दोनों में एक भी नहीं।"

"लिहाज भी तो एक बड़ी चीज़ है देवी बाबा!"

"बेशक! मगर तमीज़दारों के साथ।"

उन दिनों रियासत के मैनेजर थे मिस्टर स्टीवेंस। हमारे यहाँ आने के क़बल वे कहीं निलहे साहब थे। जब नील का रोज़गार जर्मन रंग के ईजाद की वजह तबाह हो गया, तो बेचारे बड़ी-बड़ी सिफारिशों के ज़ोर पर हमारे यहाँ घुस पड़े। आदमी थे तो इंसाफ़पसंद, मगर थे बेहद आरामतलब भी।

उनकी बीवी मुझे अँग्रेजी पढ़ाती। इसीलिए सुबह की

हाजिरी हमारी वहीं थी। वह थी बड़ी नेक औरत। कभी किसी पर भौं नहीं उठाई।

देवी बाबा भी अक्सर उनके पास बैठते। उनके तौर और तमीज़ का सिक्का साहब पर भी काफ़ी चल गया था। साहब की एक छोटी-सी बच्ची रही—नोरा। उसे देवी बाबा क़िस्से सुनाते और वह तालियाँ पीटपीट उनके गले में झूम जाती। देवी बाबा भी उस गुलफुल और चुलबुल छोकरी के साथ बच्चे बन गए थे। उसी सूत्र में वहाँ खिँचकर वे जाते। बच्चों के प्यार से वंचित उनका हृदय उस अनजान छोकरी की दिलचस्प किलकारियों पर लट्टू था। हुस्न और हुनर की ओर तो वे अनायास खिंच जाते। और वह थी भी मानों कला की एक लय। आठों पहर ठुमुकती रहती। गुलाब के फूल-से मुखड़े पर मुस्कुराहट नाचा करती और वह और देवी बाबा बे-बात की बात पर हँसते-खेलते लोटपोट हो जाते।

साहब का एक पेशकार था—उनकी नाक का बाल। था तो कारगुज़ार, मगर एक ही मक्कार। नंबरी रिश्वती और तुर्रा यह कि वह अपने सामने किसी को गिनता भी न था। साहब पर यह जमा रखा था कि यहाँ के तमाम अमले निकम्मे हैं और वह नाक पकड़ उनको उठाए-बिठाए नहीं, तो वे कहीं के न होंगे।

साहब बहादुर अक्सर अपने पेशकार की कारगुज़ारियों पर तारीफ़ के पुल बाँधते। उस दिन भी देवी बाबा के सामने लगे हाँकने। बस, देवी बाबा की ज़बान से हठात् चू गया—

"मैंने तो कभी कुछ पाया नहीं। हाँ, आप जानते होंगे।"

साहब तो चुप हो गए, मगर शायद उनका खानसामा दफ़्तर में जाकर पेशकार साहब से न जाने क्या-क्या नमक-मिर्च लगाकर कह आया।

मैं भी उस घड़ी वहाँ मौजूद था। पेशकार साहब कुछ अजब झल्लाए-से आए और आते ही लगे हाथ फेंकने—

"हमने सुना है हुजूर कि मुंशी देवीलाल हमारे बारे कुछ झूठी बातें फैला रहे हैं!"

"आख़िर वह बात क्या है?"—साहब ने अकचकाकर पूछा।

"उन्हीं से पूछा जाय! कहें वही...!"

"मुंशीजी!"—साहब ने इधर रुख़ किया।

"जी हाँ, पेशकार साहब सच फ़रमाते हैं। मैंने अभी झूठ ही कहा!"

"झूठ!"—साहब का चेहरा लाल हो गया।

"चूँकि सच कहने से उनकी रोटी पर जो आ जाती!"

और देवी बाबा रुकते-रुकते भी बहुत कुछ कह गए। पेशकार साहब की तो हवा बिगड़ गई। साहब का चेहरा लाल होते-होते सुफ़ेद हो गया और देवी बाबा ने एक अजीब आलम में अपनी छड़ी सँभाली और चल दिए। फाटक पर जाते-जाते नोरा फुदकती हुई उनकी टाँगों से लिपट गई।

× × × ×

आज वह ज़माना नहीं रहा। ज़माना हुआ, मिट गया। जमींदार का न वह रोब है, न वह दाब। उस युग की बात ही और थी। जमींदार की तूती बोलती रही और वह बोली सरकार के नक्कारखाने में भी कुछ तूती की आवाज़ न थी—दमामे की चोट थी। छोटा हो या बड़ा कहाँ नहीं उसका बोलबाला था?

रैयतों का जत्था उसके हाथ था। हाथ ही नहीं, दिल से साथ भी था—अगर जमींदार दिलदार रहा। परिवार का बर्त्ताव रखा, सुख-दुख में हँसा और रोया, तो उस कुनबे का सरदार बनकर रहा। और कहीं दलितों के लहू से मक्खन निकाल अपनी पूँछ चिकनी रखी, तो उनकी ही आह की आँच से एक दिन भुन भी गया।

हाँ, इस सुलतानी के वायुमंडल में देव का ही दबना और दानव का शेर होना सहज है। किसी की आँखें खुली न रहीं, तो वह इस पद के मद के तले मुँह के बल आ गया।

देवी बाबा ग़रीब का पल्ला न थामते, तो रियासत के किसी कर्मचारी के साथ बदगुमानी की कोई नौबत न आती। उस युग में किसी बेकस की पीठ पर हाथ देना साँप के बिल में हाथ देना था। लोकमत परंपरा का तरफ़दार था और परंपरा के हाथ में कट्टरता की तलवार बराबर तनी रहती। जाति का जो बड़ा है, धन का जो बड़ा है, कुल का जो बड़ा है—वही बड़ा है। एक ओर बड़े थे, दूसरी ओर छोटे। बड़ों की मर्ज़ी पर छोटों की ज़िंदगी थी। बड़ों के हाथ में छोटों की रोटी थी। छोटों की छाती पर दाल दली जाती, ताकि बड़प्पन की हाँड़ी में वह मज़े से गलती रहे। सदियों की पिसाई से वह छाती पत्थर की-सी न बन जाती, तो जाने कभी फट गई रहती। और छोटे क़िस्मत ठोक बड़ों का तलवा धो-धोकर पीते और खँजड़ी बजा-बजाकर अपनी छोटी-सी दुनिया में टिक्कड़ और चुक्कड़ पर मौज करते।

ज़माने का दस्तूर रहा बेगारी। कोई भी काम पड़ा, बेगार पकड़ लिया गया। आज इस घर से, तो कल उस घर से। मजाल नहीं कि कोई चूँ भी करे। दिन भर खटा, शाम को घर गया। कभी कुछ भाग से पा गया, तो दाता की जय, वरना शिकायत कैसी? उसके अपने घर चूल्हा ठंढा है या गरम, इसकी पूछ नहीं। उसका अपना बच्चा बीमार है, तो उसकी बला से! औरों के बच्चों के

लिए दवा हुआ करे, उसके लिए तो उसकी माँ की दुआ काफ़ी है। दिन भर वह खटा या दोनों जून चौके-बरतन में उसकी औरत खटी और भर पेट खाना भी मयस्सर नहीं। हमारे घर तो बेगार की ज़रूरत न थी। यहाँ तो नौकरों का काफ़ला था। मगर राज के कर्मचारियों का काम ज़्यादातर बेगारों के मत्थे चलता रहा। कोई भलेमानस रहा, तो कभी कुछ दे दिया, नहीं तो देने का तो सवाल भी न था। एक दो नहीं, सैकड़ों काम थे! सरकारी ज़िरात की रोपनी, सोहनी, बोझों की ढोरी, ओसवनी। यहाँ भी मर्ज़ी की मनमानियाँ थीं। कोई बँधी-बँधाई रकम तो थी नहीं; अपनी मर्ज़ी थी।

इस सरकिल के तहसीलदार एक पछाहीं चौहान थे। सरकश! बेलौस। शान-शौकत भी काफ़ी थी।

तहसीलदार साहब खाने-खिलाने के शौक़ीन थे। अक्सर दावतें देते। कहार-कांदू बे-वक्त पकड़ जाते। फिर लगे हाथों उनकी एँड़ी का पसीना चोटी तक पहुँचाकर दम लेते। किसी से कोई भूल हो गई, तो उसे छठी का दूध याद दिलाकर तो इतमीनान की साँस लेते। आए-गए तो पुलाव पर हाथ साफ़ करते और वे बेचारे चूल्हे की गरमी या हवा खाकर रह जाते।

आते ही दरबारियों पर उनकी धाक जम गई और देवी बाबा से चोटें चल गईं।

तहसीलदार साहब के पास कोई बावर्ची नहीं था। यहीं का एक कहार उन्होंने रख लिया था। वह बेचारा पकाने के फन का उस्ताद तो था नहीं, कुछ पका लेता रहा ज़रूर। हाथ ही है, उस दिन कबाब में कुछ मिर्च ज़्यादा पड़ गई। तहसीलदार साहब के मुँह में नेवाला पड़ा तो आग हो गए—

"क्यों बे, आज कबाब में तू ने सेरों मिर्च उझल रक्खी है!" और उन्होंने चट कटोरा उठा उसके सर पर तानकर फेंका। कनपट्टी खुल गई। फर्र-फर्र खून निकल आया।

देवी बाबा से देखा न गया। हाथ का कौर छूट गया। खिँचकर बोल उठे—"तहसीलदार साहब! आपके कबाब में मिर्च पड़ जाने की वजह तो इस बेचारे की यह सज़ा हुई। मैं पूछता हूँ, काश किसी के मिज़ाज में मिर्च पड़ी हो, तो?"

"लगे आप नमक-मिर्च लगाने! क्या मंशा है इसे सरकार तक पहुँचाने का?"

"यह मिर्च की गरमी दूर करनी ही होगी—समझे! वरना..."

"हाँ, रुके क्यों? फरमाइए!"—तहसीलदार साहब भभूका हो रहे थे।

"वरना यह आग लगाकर धर देगी।"

"आप पर तो आँच आने की नहीं?"

"अजी साहब, आप पर जो आती है।"

"मुझ पर! लालाजी, आप जैसे जाने कितने पानी भरते हैं मेरे यहाँ।"

"फिर भी उस पानी से बुझा तो नहीं पाते! मिज़ाज का शोला ज्यों-का त्यों है!" और यह कहते हुए उठ गए कि "जो चुप रहेगी ज़बान-ख़ंजर लहू पुकारेगा आस्तीं का!"

यह घटना तो पहले की थी। हाल की सुनिए।

एक दिन वे किसी कहार के छोकरे पर बेतरह आग हो रहे थे। देवीलाल जो उस रास्ते से गुज़रे तो किसी की दर्दनाक चीख़ सुनकर ठमक गए। उधर तहसीलदार साहब के हाथ का कोड़ा उस छोकरे की नंगी पीठ पर बोल गया!

देवी बाबा चट मुड़ गए—

"भला तहसीलदार साहब! यह क्या फुलझरियाँ चला रहे हैं आप! क़ुरबान जाऊँ इस नाज़ुक कलाई की अदा पर! मारने भी चले तो बस, यह गुलाब के फूल की चोट! अजी साहब! एक ही बार में तड़प-तड़पकर उसने दम न तोड़ा, तो फिर आपके हाथ की सफ़ाई क्या रही?"

तहसीलदार साहब उसी तैश में रहे—"ना, साले की पीठ की खाल उधेड़कर तो दम लूँगा।"

"तो यह कौन-सी बड़ी बात है, जब आपका दिल इसी

पर मचल उठा है ! यह कुछ गैंड़े की पीठ तो है नहीं, आदमी ही की है !"

"आदमी ? आदमी की तरह वह बरते भी तो !"

अब देवी बाबा व्यंग्य से उतर सीधी राह पर आए।

"क्यों न बरतेगा ? उसे आदमी की खुराक तो दें ! वह कुछ भेड़-बकरा थोड़े ही है कि घास-पात पर पेट पाल लेगा !"

"तो क्या उसे ज़मीन नहीं मिली है ?"

"उसी पाँच कट्ठे से बाल-बच्चे की गुज़र हो सकेगी ?"

"क्यों मजूरी भी तो है !"

"अजी वाह ! उसकी फ़ुरसत भी तो हो ! वही मसल—तबेले की बला बंदर के सर !"

"क्यों नाहक आप इन्हें शोख़ बनाने पर तुले हैं ? जिस पत्तल में खाना, उसी में छेद करना ! भगवान से भी तो डरिए !"

"भाई साहब, भगवान के डर से कहीं ज़्यादा मुझे ग़रीब की आह का डर है। वह भी आप के ही लिए कहता हूँ—कुछ अपने लिए नहीं !"

देवी बाबा ने किसी से कुछ कहा तो नहीं, मगर सरकार की वर्षगाँठ के दिन एक रुबाई लिखी—'बेकस की फ़रियाद'—और भरे दरबार में ख़ुद पढ़कर सुनाया। किसी ख़ास

मुलाज़िम की कोई शिकायत न थी उस लहूचूसी के दस्तूर के खिलाफ़ सिर्फ़ अपील थी। और, भाव और भाषा कुछ ऐसी दिलकश थी कि पत्थर का कलेजा भी मोम हो गया।

मेरे पिता तो देन कर भी देते रहे। यहाँ तो कुछ देना न था। पर परंपरा की क़िलेबंदी पर मानवता की एक माँग का रास्ता देना कुछ आसान न था।

विरोध का बवंडर उमड़ आया। देवी बाबा की खुले-आम मरम्मत शुरू हुई—यह कुछ शायरी की दुनिया नहीं है। यहाँ किसी दर्द-दिल की गुंजाइश कहाँ? मुंशीजी की यह सरासर अनधिकार चर्चा है।—जिस डाल पर बैठना, उसी की जड़ पर कुल्हाड़ी मारना—अपना घर फूँककर....वगैरह वगैरह। किसी ने मीठी चुटकी ली। किसी ने फ़बती कसी।

मगर मेरे पिता ने एक छोटी-सी जाँच-कमिटी बना-कर ही तो छोड़ी। कमिटी के सदस्य चुनकर रखे गए। कोई भी किसी जमींदारी महकमे का सरोकारी न था। जाँच खुफ़िया थी। उसका दायरा काफ़ी चौड़ा था। महीनों तक सनसनी रही। बदगुमानी फैली। पैंतरेबाज़ी चली। दलबंदियाँ खड़ी हो गईं। आस-पास के ज़मींदार भी हाथ बटाते रहे। पैरवियों की हद हो गई। बड़े लोगों के तमाम फ़िरके एक साथ थे। छोटों का कोई संगठन न था। अकेला देवीलाल थे।

कमिटी की रिपोर्ट किसी पर खुली नहीं। मगर सूँघने-वाले थोड़ी-बहुत ताड़ ही गए। दो-चार कर्मचारी बुरी तरह फँसे। बेगार तो खटाते ही रहे, इधर चिट्ठा तैयार कर मजूरी भी बरामद करते रहे। कितनों की पोल खुली। जुल्म का चिराग़ बुझने पर आया।

आखिर दशहरे के दिन सरकार का हुक्म ऐलान हुआ। बेगारी दफ़न हुई। जिससे काम लो, उसे पेट-भर खाना दो। और कितने छोटे-मोटे कामों की मजूरी बँध गई—नक़द या जिंस।

किसी की दाल गली नहीं। तमाम पैरवी बेकार गई। निठुर परंपरा की पहली कड़ी टूटी। हाँ, इस उलट-फेर के लिए वह पुरानी दुनिया अभी तैयार न थी। उसकी अकड़ ज्यों-की-त्यों थी। कोई दाँत पीसता, कोई होंठ चबाता। कोई लहू का घूँट पीता।

देवी बाबा हफ़्तों कोठरी में बंद रहे। सामने आते तो न जाने लोग कच्चा निगल जाते। और जब एक दिन चंद रैयतों ने रामायण के झलकूटन पर एक शोभायात्रा-सी खड़ी की और देवी बाबा के बैठके के सामने सरकारी फाटक पर—'तेहि छन मध्य राम धनु तोरा, भरे भुवन धुनि घोर कठोरा'—की धुन लगाई, तो गाँव में एक सनसनी-सी छा गई।

'शंकर चाप जहाज, रघुबर सागर बाहुबल,
बूड़े सकल समाज, चढ़ा जो प्रथमहिं मोहबस।'

सोरठे ने गज़ब ढा दिया। गाल बजानेवाले कितने पट्टीदार रास्ते में एकबारगी टूट पड़े और उन बेचारों के तमाम ढोल-मजीरे तोड़-मरोड़कर घूरे पर फेंक दिए।

यह खुल्लमखुल्ला जामे से बाहर होने की एक वजह थी। रियासत में तो बेगारी की बंदिशें कुछ ऐसी सरकश न थीं। यह बम फटा जाकर औरों के सर पर।

देवी बाबा की इस कारगुज़ारी ने मूक बरदाश्त के मुँह में ज़बान रख दी। जो दर्द हद से गुज़रकर गर्द हो चुका था, वह लगा फिर टीस देने। पीड़ा उभर आई।

मेरी बस्ती पट्टीदारी का मौज़ा है। छोटे-मोटे चंद और पट्टीदार हैं। उनकी अपनी रैयत है, अपनी जोत-ज़मीन। हम सब से बड़े ज़रूर हैं, पर अपने घर के बड़े हैं। जो छोटा है, वह भी अपनी पट्टी का राजा है। और उन दिनों वह राजा ही था। उसकी उँगली पर उसकी प्रजा कठपुतली थी। वह एक ओर अपनी रैयत को खटाकर जान लेता, तो दूसरी ओर उसके लिए जान देने को भी तैयार रहता। रैयतों को लेकर पट्टीदारों में बराबर महाभारत छिड़ा रहता।

भले और बुरे कहाँ नहीं हैं? पट्टीदारों में भी दोनों रहे। मगर इनमें चंद ऐसे भी थे, जिनके सर पर रैयत ही सवार थी। पट्टीदार साहब तो शराब-कबाब की रंगीनियों में मस्त रहते, उनका जेटरैयत पट्टी पर मनमानी करता। अंदर

हवेली में उसकी बीबी शराब के रंग में रंग भरती, मालकिन को उँगलियों के इशारे पर उठाती और बिठाती; और बाहर मियाँ मालिक का रोब गाँठता—तमाम रैयतों को एक पैर पर खड़ा रखता। लाला साहब को तो कोई पूछता तक नहीं।

क्या बात है कि जब रैयत जमींदार के जूते में पैर रखती है तो वह लगती है तलवे को रैयती छाती पर साफ़ करने!

मेरे पिता के हुक्म की पाबंदी इन पट्टीदारों पर न थी। वे तो किसी के आधीन न थे। यह कहकर टालते गए कि हम कुछ राजा साहब की ज़मीन में थोड़े ही बसे हैं;—वे अपना सब कुछ लुटा दें, अपनी बला से। मगर जब उनकी रैयत कोई हीला ले उधर से इधर आने का रास्ता ढूँढ़ने लगी, तो उनका माथा ठनका। दिल बदलना तो आसान न था, आँखें बदल लीं। लगे देवीलाल को कोसने। यह सब्ज़-क़दम यहाँ न आता और न इन मेढकों को जुकाम होता।

एक साहब कुछ ज़रूरत से ज़्यादा रोशनी में आए। रहते तो रहे वे पच्छिम; घर पर छठे-छमासे आते। यहाँ पट्टी की जो थोड़ी आय थी, उसकी देखरेख उनकी एक रैयत के हाथ थी। जमींदारी रोब-दाब में वह जमींदार का भी चचा था।

देवी बाबा

लालाजी की बीबी गोद का एक बच्चा रख काशी में कूच कर गईं। लाला जी को एक धाय की तलाश थी। घर पर चिट्ठी आई। वह कारिंदा मौजूद था ही, छान-बीन चली। श्री लक्ष्मीनारायण के मंदिर का टहलुआ उसी पट्टी की रैयत था। परसाल उसके बेटे की शादी हुई थी। बेटे को दो मास की एक बच्ची भी थी। उसकी नवेली बहू फ़ौरन चुन ली गई। बच्चेवाली तो वह थी ही, रूप-रंग भी ऐसा था कि देहात की एक सौगात होती।

बूढ़े बाप ने तो डरकर 'हाँ' कर दिया, पर बेटा था ज़रा तेज़-तर्रार। तन गया। उसे यह धड़कन थी कि बहू को लालाजी के बच्चे को छाती का दूध ही देकर नजात न होगी, बच्चे के बाप को छाती का रस भी देना पड़ेगा—कम-से-कम जब तक बच्चे की दूसरी नई माँ नहीं आती। नौकरानी की नौकरानी और बीबी की बीबी।

धमकियाँ शुरू हुईं। खींच-तान चली। पीटपाट भी हुई। कोई फल न निकला। उस बेचारे को तो मंदिर के चौखट पर माथा पटकने के सिवा कोई और चारा न था। उसके बेटे ने देवी बाबा के पैरों में सिर रख दिया। करते क्या? दिलासा देते रहे। मालिक तो बनारस थे। उनका कारिंदा जो यहाँ था, वह एक छँटा था। कमीना। उससे उलझता कौन?

आख़िर एक दिन बात मशहूर हुई कि मालिक घर आना चाहते हैं और हुक्म है कि मकान तोड़-ताड़कर उनके रहने लायक बनाया जाय। तमाम उम्र वे शहर में रह आए। उनको कुशादा बैठका चाहिए। बैठके के सामने सहन चाहिए।

काम जारी हुआ। वह टहलुआ उनके उसी खंड में बसा था। तीन पुश्त की उसकी झोपड़ी थी। मगर हाते की नई दीवार तो बग़ैर झोपड़ी तोड़े सीधी न होती। और सीधी करनी ज़रूरी थी, ताकि सहन का रुख़ न बिगड़े। बेचारा छछन पड़ा। मालिक सुनते नहीं; बेटा सुनता नहीं। उधर मालिक की मूँछ थी। इधर जवानी का ज़ीट। वह छाती पीट कर रह गया। दीवार खिंच गई, घर उजड़ गया।

आख़िर आसमान के तले वह कहाँ रहता? कोई और पट्टीदार शरण देने को तैयार नहीं। कौन मुफ्त का झगड़ा मोल ले। देवी बाबा ने सरकार से कहकर हमारे यहाँ थोड़ी ज़मीन दिलवा दी। टाटी की ओट कर खड़े होने की जगह हो गई। यहाँ तो किसी की दाल गल न पाई। राजा के आगे बाबू की दुहाई!

लाला साहब का कारिंदा मुँह लेकर रह गया। मालिक को कौन मुँह दिखाता! मकान के तोड़-ताड़ में रुपए भी कटे और गोटी भी लाल न हुई। देवीलाल की बंदिश की

वजह बाज़ी हारने पर आई। एक रैयत भी हाथ से निकलने पर आई।

उसे और कुछ सूझा नहीं तो बनारस जाकर मालिक को पकड़ा कि चलकर वे मेरे पिता से मिन्नत करें। दरबारियों ने उसे उम्मीद दिलाई कि सरकार से कह-सुनकर आर्डर रद्द करा देंगे। दरबार की हवा भी देवी बाबा के खिलाफ़ ही थी। उनके सर कोई सेहरा बँधे, यह किसी को क़बूल न था। उसे यह भी पता था कि सरकार पट्टीदारी के झगड़ों से अलग रहना पसंद करते हैं। आख़िर रियासत में तो रैयतों की कमी न थी। एक रैयत को लेकर आपस की बिरादरी के बर्ताव पर आँच आने देना कभी नीति न होगी। इसी बल पर वह मालिक के पास दौड़ पड़ा। मगर जब तक लाला साहब पच्छिम से तशरीफ़ लाए, पिताजी कलकत्ते चल दिए। वे आए भी तो बेकार आए!

पहले तो वे अपने कारिंदे पर बेतरह उबल पड़े कि नाहक उस कमीने ने उनकी किरकिरी कराई। बैठे-बिठाए तिल का ताड़ बना डाला और वह फला भी नहीं। मगर जब उसने एक दिन बाज़ार की राह वह पसंद की चीज़ दिखाई तो उनको तीनों लोक नज़र आ गए। हाय! कंबख़्त को कायस्थ की खोपड़ी मिली रहती, तो वह सोने की चिड़िया उनके बाग से उड़ न जाती। चाँदी के पिंजड़े में वह ठुमककर चली आती।

काशी धाम की सुधि जाती रही। आए थे दो दिन के लिए। यहाँ आकर जम गए। हाँ, पैंतरे बदल दिए। शतरंजी चाल से मात देने की ठहरी। लगे उसे मिलाने। ज़मीन लौटाने को तैयार हो गए। वह एक टूटी-फूटी झोपड़ी थी। अब एक ख़ासा खपरैल का चकमा चला।

उस कारिंदे को मार भगाया। उसी हरामज़ादे ने बेकार उनको एक ग़रीब की आह से जलाया!

टहलुआ तो था बुद्धू! मालिक की इस दरियादिली पर ढेर हो गया। मगर देवी बाबा को आदमी की पहचान थी। वे भाँप गए कि इस दरियादिली की तह में दिल नहीं है, आँख है। आँख का नशा है। यह सुलाकर लूटने की नई बंदिश है। चंग पर चढ़ाना है उसकी आबरू उतारने के लिए। उन्होंने डाँटकर कहा—

"पागल हुए हो? मोती के आगे मूँगा की पूछ! राजा की छाँह छोड़ फिर उसी भट्ठी में कूदने चले? अभी तो पर ही जले हैं, अबकी जाने क्या होगा!"

बात बेटे के दिल में धस गई। वह बाप से लड़ गया। ठठेरे-ठठेरे बदलैया! लालाजी ने समझा कि यह देवीलाल की कारसाज़ी है!

आदमी की आँख पर उसकी नज़र का पर्दा है। उन्होंने अपनी ही नज़र से देवी बाबा को भी देखा। उन्हें लगा

कि मुंशीजी की नज़र भी उसी सुंदरिया पर है। वरना उन्हें क्या पड़ी थी कि एक रज़ील का पल्ला थामते! बगैर किसी स्वार्थ के भी कोई बेकस की पीठ पर हाथ दे सकता है, लालाजी के अंतस्तल में इस अनुभूति की गुंजाइश न थी।

मनुष्य के जीवन में उसकी अनुभूति उसकी कितनी बड़ी विभूति है, यह राज़ तो उसकी वासनाएँ कभी खुलने नहीं देतीं।

कायस्थ की खोपड़ी भी जब जवाब दे गई, तो जमींदार की खोपड़ी में आग लगी। उनके जी की तमाम कचट बस जमींदारी ऐंठन में पलट गई। काम छिप गया। मान सामने आया। बच्चे के पालन का प्रश्न तो कभी का दफ़न हो चुका था। बाप-दादों का ख़ून नसों में खौल उठा। बंदूक उठाने को वे तैयार हो गए, पर फ़िक्र यह थी कि गोली निशाने पर बैठती। दुबारा चूकी तो नाक कटकर ही रहेगी।

एक दिन पान की दूकान पर देवी बाबा से एका-एक मुठभेड़ हो गई। लाला साहब ने घूरकर देखा और होंठों के तले से कुछ भुन-सा किया। देवी बाबा ने कुछ कहा नहीं, पान का दोना बढ़ा दिया।

"लीजिए, पान हाज़िर है।"

"आपके श्राद्ध के दिन! आज नहीं।"

"तो जान भी हाजिर है, आप खाएँ तो।"

उन्होंने झपटकर पान थाम लिया और फुफकारते तैश में उसे नाबदान में फेंक डाला। फिर मुड़कर बोले—

"आपको पता है, हमारी टोली आपको क्या समझ रही है? अव्वल दर्जे का लफंदर!"

"शुक्र है, दर्जा तो खैर आपने ऊँचा ही दे रखा है।"

"मगर लफंदरी आपकी अब निभ नहीं सकती।"

"वजह?"

"चूँकि यह भोजपुर है; यहाँ आपके चचा भी मौजूद हैं।"

"जी हा, चचा की लफंदरी का तमाशा तो मैं देख भी रहा हूँ।"

बस, जंग छिड़ गई।

लाला साहब का वह जेठ रैयत सोंटा फटकार फिर वापस हुआ। गया तो था नहीं, पैंतरे पर हटा था। वार खाली पड़ा और वह आ धमका। नाल में उसने नई गोली भरी और धाँय-से फ़ायर कर दी।

बेचारे टहलुआ के सर पर मौत आई। अदालत का समन पहुँचा। काटो तो लहू नहीं। दो साल पहले किसी मोगल से उसने बेटे की शादी के वक्त कुछ रुपए लिए थे। आना रुपए माहवार सूद तै था। कमाई की रक़म से महीने-महीने वह कुछ भरता भी चला आया। हिसाब उसे याद

नहीं। नालिश की कोई वजह न थी। पिछले महीने भी उसने कुछ दिया था, जिसे महाजन ने बही पर टाँक लिया था। दिलासा भी दिया था कि साल भर में हिसाब चुकता हो जायगा। अब यह बे-मेघ की बिजली कैसी? और वह भी सवा सौ रुपए की। बहू के तमाम गहने गिरों कर भी तो शायद यह रक़म पूरी न होगी। वह हकासा-पियासा महाजन के घर दौड़ा—पाँच मील। उसे महाजन के हँसमुख चेहरे का भरोसा था। उसे पता क्या था कि चेहरे की वह चाँदनी कुछ दिल की रोशनी नहीं, व्यापार की एक गुलाली धाँधली है। मोगल की आँखों में करुणा की तलाश वेश्या की आँखों में वफ़ा की तलाश से कम नहीं। महाजन ने कान तक तो दिया नहीं, दिल देना तो दूर रहे। आज तेवर ही बदला था—बस, एक मुश्त गिन दो! एक दिन भी न दूँगा। वह रोया—गिड़गिड़ाया—बेकार। आँसू की धार से पत्थर नहीं पसीजा।

दसों दिशाएँ सूनी थीं। करे क्या? कहाँ हाथ पसारे? देवीलाल तो ख़ुद फ़क़ीर थे। उनकी दुआ तो कोई दवा होती नहीं। यहाँ सवा सौ नक्द उड़ेलना था। वकील की शरण में जाना तो तवे से छूटकर आँच पर गिरना है।

कोई रास्ता न मिला तो फिर वह पुराने मालिक के दर पर गिरा। लाला साहब हँसे—कहीं सीधी उँगली से भी घी निकला है! आए न बच्चू राह पर!

मछली के मुहँ में वंसी का काँटा जब चुभ चुका तो उसे खेला-डुलाकर खींचने में शिकार का लुत्फ़ है। नालिश की ख़बर सुन दाँतों-तले उँगली रखी। मोगलों की कज़ाकी का ख़ाका उतारा। हाँ, कहीं से रुपयों का सामान करना ज़रूरी होगा। वे तो ख़ुद तंगदस्त हैं। जैसे-तैसे कर इस मकान से छुट्टी पाए। यही तूमार बाँधा। वह लगा गिड़गिड़ाने, तो बिगड़ पड़े—

"अरे जा, जा, कलकत्ते जा! नए मालिक से रुपए ले आ। राजा की रैयत बना है न!"

वह कारिंदा भी वहाँ मौजूद ही था। लगा कहने—

"जाय दीं मालिक, भूल भइल। बेचारा देवीलाल के झाँसा में रहल। अब उबारीं ना त गरीब डूब जाई!"

आख़िर दो दिन की आरज़ू-मिन्नत पर यह तै पाया कि वह तारीख़ के क़ब्ल अपनी पतोहू को लाला साहब के घर, बनारस, पहुँचा दे। सूद में वह दूध पिलाती रहे और मूर उसका बेटा यहाँ मज़दूरी कर तिल-तिल भरा करे। बाप-बेटे मकान मकफ़ूल कर दस्तावेज़ तामील कर दें।

शर्त शैतान की आँत थी। बहू और बेटे की जवानी हज़्म कर जाती। मगर चारा ही क्या था!

देवी बाबा ने शर्त सुनी, तो ज़र्द पड़ गए। बाप बेचारा स्याह हो चुका था। बेटा लाल-पीला होकर भी कोई रंग न

जमा सका। इस शर्त के बदले उसे मौत क़बूल थी। मगर मौत भी तो माँगे नहीं मिलती!

देवी बाबा गुम थे। क्या दिलासा देते? आँसू से वह दिलासा पाता, तो अँजुरियाँ उड़ेल देते। पास तो कुछ और था नहीं, आँसू पोंछने के लिए कह दिया कि सरकार को इत्तला देता हूँ।

मंगल की रात लाला साहब के घर जशन रहा। सुराही तो थी ही, सुरीली काकली भी थी। विदाई की पार्टी थी और बिरादरी की यारबाशी। कल बनारस लौट रहे थे। सुबह विक्रमगंज दस्तावेज़ तामील कराते और फिर इक्के से सासराम जा रुपए भरकर बनारस की ट्रेन पकड़ते। बच्चे की नई धाय साथ-साथ जाती। उसे आज आँगन में बुला-कर नई लहरिया साड़ी नज़र की गई और बनारस की रंगी-नियों की तसवीरें सामने रख महल की रानी का सब्ज़बाग भी दिखाया गया।

लाला साहब ने तड़के उठकर नहा-धो लिया। बाल सँवार रहे थे कि एक अजनबी ने बैठके में क़दम रखा। उसके हाथ में एक बंद लिफ़ाफ़ा था। पूछने पर मालूम हुआ कि ख़त के साथ बीस रुपए के नोट भी हैं। लिफ़ाफ़ा जो खोला, तो हाथ के तोते उड़ गए! महाजन का ख़त था कि उसके तमाम रुपए दाम-दाम वसूल हो गए और नालिश के खर्च

के लिए बीस रुपए जो उन्होंने दिए थे, वह इसी आदमी की मार्फ़त वापस जाते हैं।

लाला साहब के पाँव तले से जमीन सरक गई। चट इक्का पकड़ा और हवा हो गए।

इधर भगवान की मंगलारती के वक्त, सुबह चार बजे, टहलुआ घरी-घंटा लिए अपनी ड्यूटी पर पहुँचा, तो ग़ैर-मामूल देवी बाबा को मंदिर के दर पर देख ज़रा चौंक पड़ा। कल रात को वह भगवान का प्रसाद अपनी परीशानी की वजह उनके पास पहुँचाना भूल गया। इसी शर्म और डर से वह काँप उठा।

देवी बाबा उसके कंधे पर हाथ रखकर बोले—"सुना है न, सरकार की मर्जी हो गई? नालिश का रुपया कौड़ी-कौड़ी चुकता हो गया। ले, तेरा गला छूटा!"

टहलुआ के हाथ से घंटा छूट गया। आँसुओं में शराबोर मंदिर के दर पर लोट गया और जब भगवान के सामने आरती की बत्ती दिखाते पुजारी ने डपटकर घड़ियाल उठाने को कहा, तो उठने को तो वह उठा, पर हाथ काँपने लगे। घड़ियाल बज न पाया!

उस कंबख्त को पता नहीं कि किन हाथों ने उसे डूबने से उबारा! वह पता पूछता भी किससे? हाँ, मुझसे यह पर्दा नहीं कि देवी बाबा ने न मेरे पिता को इत्तला दी,

न रियासत के ख़जाने से वे रुपए आए। मेरे पिता को क्या, रियासत के किसी अफ़सर को कोई ख़बर तक न हुई। छप्पर फाड़ आसमान से बरसे हों तो यह बात और है। बेकस की आह में यह चमत्कार तो इस युग में मैंने कभी सुना नहीं। मगर मुझे उस कूचे का अनुभव ही क्या है? मेरी अनुभूति मुझे पता भी दे, तो मुझे उसे सुनने की फ़ुरसत ही नहीं।

देवी बाबा भी मुझ पर कभी खुले नहीं। मैं इसी क़दर जानता हूँ कि दो दिन पहले मैंने अपनी माता के पास से एक छोटी-सी पोटली लाकर उनके हाथ में दी थी। उसमें एकाध जेवर थे। मैंने अचरज से पूछा, तो पता चला कि ज़माना हुआ, देवी बाबा ने दो-एक जेवर मेरी माता को रखने के लिए दे रखे थे। जेवर कुछ कीमती न थे। उनकी दिवंगत पत्नी की बची-खुची निशानियाँ थीं। हाँ, उनके लिए वे अनमोल थे ज़रूर।

उस दिन किसी दाई से उन्होंने वह पोटली मँगवा भेजी, पर माँ ने दाई के हाथ न भेजवाकर मेरे ही हाथों भेजवाना उचित समझा। मुझे जब कुतूहल हुआ कि इन गहनों की उनको क्या ज़रूरत पड़ गई, तो माँ ने कहा—भगवान जाने, मुझे पता नहीं!

क्या यह 'पता नहीं' कुछ पता नहीं देता? उन्हीं

जेवरों के सर पर वह बला कटी। उस रहस्य का कोई और छोर तो संभव नहीं। मेरा यह अनुमान सच है, तो इस दान का जवाब कोई दान नहीं। इस युग का यह अनूठा अचरज है। यह दान नहीं, एक मूक बलिदान है। मैं पूछता हूँ, कब किसी ने अपने जीवन का तमाम संबल एक अनजान बेकस की आह पर लुटा पाया है? और तुर्रा यह कि पानेवाले को पता तक नहीं कि यह रहमत किस देवता की देन है!

देवी बाबा कोई दानी न थे। दानी वे होते ही कब? वे कुछ दे रहे हैं—यह भाव उनमें उठा ही नहीं। किसी को कुछ दिया, तो दिल दिया, और वह भी जब उनसे देखा न गया। कोई ढिंढोरा पीटकर दिल नहीं देता—दान देता है।

लीडरी की दुम लगाकर अक्सर लोकसेवा की दूकान चलती है। दरियादिली का इश्तहार बाँट अक्सर दान की दूकान खुलती है।

मुझे एक दिन की घटना आज भी याद है। पूस की शाम थी। हाड़ कँपानेवाली सर्द हवा। मैं तो ओवर कोट डाटे चाय पी रहा था। देवी बाबा दुलाई में दुबके बरामदे में बैठ जाने क्या पढ़ रहे थे। हठात् उनकी निगाह एक अधेड़ औरत पर पड़ी, जो एक फटी-चिटी साड़ी में सिमट सामने की अमराई में चंद सूखी टहनियाँ बटोर रही थी।

पाले से वह बेतरह ठिठुरी जा रही थी। मुझे तो ऐसा लगा कि वह अब गिरी, तब गिरी। फिर भी वह दाँत कटकटाती खट रही थी।

देवी बाबा से देखा न गया। दो बार कुर्सी से उठ पड़े और फिर एक छन ठिठक गए। किसी ने समझा नहीं, बात क्या है। तीसरी बार जो उठे, तो चट अपनी दुलाई उतार उसके कंधों पर डाल आए।

वह कौन थी, कहाँ की थी—कुछ पता नहीं। मैंने टोका भी—

"आपने यह किया क्या?"

"भाई, मुझसे देखा न गया।"

"तो ख़ुद?"

"ख़ुद की परवाह नहीं। वह उन चीथड़ों में जी लेती है। मैं तो दोहरा सलूका पहने हूँ।"

देवी बाबा के पास कोई और दुलाई न थी। मेरे पिता को पता चला तो नौकर के हाथ उनको एक नई दुलाई भिजवाई। मगर देवी बाबा ने इनकार कर दिया।—"वाह! मैं पागल हो गया हूँ, तो रियासत क्यों साथ देगी? एक मिलती है, वही काफ़ी है!" और लाख आग्रह पर भी नहीं ली—नहीं ली। यारों ने सुना तो हँसकर कहा—"मियाँ बहे नहीं जाते, गौं से जाते हैं। बाप की कमाई

पर हाथ की सफ़ाई चलती, तो एक बात भी थी !"

यही दुनिया है न ! यह मायावी एक धनी दानी का तो अभिषेक करती है और दिलफेंक की हँसी करती है। वह तो नामी को जानती है, दानी को सराहती है। कैसा दानी ? वह, जो इश्तहार बाँट उदार बनता है; वह, जो दान की तह में इस लोक में ज़ीनत और परलोक में जन्नत की गारंटी देखता है; वह, जिसकी नज़र कीर्त्ति की ध्वजा पर है, कुछ आदमी की सेवा पर नहीं। बस, उसकी तमाम मानवता तो उसकी महत्वकांक्षा का चकमा है। यही नक़द और उधार प्रलोभन दान का मनोविज्ञान है न आज !

मैं पूछता हूँ, दान के बदले में मान मिला तो यह सौदा किया या दिया ? आख़िर धन के बाज़ार का सौदा है ही क्या ? आज कब कोई किसी को निःस्वार्थ देता है ? दिल खोल देना और है, संदूक खोल देना और। जो नाम के लिए देता है, वह हाथोंहाथ लेता नहीं। जब लेन की रही, तब दान कैसा ? उसमें संचय की बू है या त्याग की ? दान तो तब होता, जब त्याग ही उसके जीवन का संचय होता।

हम तो आज देते हैं चूँकि इस दो मुट्ठी के देने से हम चाहते हैं कि मुँहताजों की आह की लू हमारी ज़िंदगी की हरियाली को छू न सके—हमारी यह देनेवाली घर की

लक्ष्मी हमारे पुण्य पर बराबर हँसती रहें। आख़िर दीनों की दुनिया दीनों की बस्ती न होगी तो 'दाता की जय!' कौन पुकारेगा?

हाँ, तो इस ड्रामा का अंत यहीं नहीं है—आगे है। और वह इतना दुखद है कि कहते कलेजा मुँह को आया चाहता है।

वह बहू निकली एक छुच्छुम। दो महीने बाद पति और ससुर के मुख में कालिख पोत जाने कहाँ खुद भी मुँह काला कर लिया। उन दोनों ने तो शायद लाज बचाने की गरज़ से यह कहानी खड़ी की कि उसके बाप ने कुछ रुपए ऐंठ उसे कहीं और खपा दिया। मगर कहनेवाले कहते हैं कि लाला साहब का कोई जासूस उसे नैहर से बनारस उड़ा ले गया और वह महल की रंगी-नियों के चकमे में आ गई।

जो हो, जब पाठकजी ने—जिन्हें देवी बाबा की हम-दर्दी का कुछ थोड़ा पता था—बड़ी समझदारी से सर हिला मुँह बनाकर चुटकी ली कि देखिए, मैं कह रहा था न कि इन कमीनों का पल्ला थाम बाद में पछताइएगा, तब देवी बाबा ठठाकर हँस पड़े—

"आपकी भी क्या बातें हैं, पाठकजी! मैंने तो उस चुड़ैल को कभी देखा तक नहीं। खैर, गई तो एक

ग़रीब के सर से बला ही गई !"

"मगर मुंशीजी ! यह बला तो उस गली में घर-घर है। वह कुछ निराली तो थी नहीं। जिसे कहिए चुटकियों में उड़ाकर धर दूँ। अजी, वहाँ प्रेम या सिंदूर का भी कोई मोल है ? राम-राम !"

"पाठकजी, पेट के बाद माँग का नंबर है न ? और प्रेम तो पेट-भरों का सपना है। मैं तो समझता हूँ, कि नारी की प्रकृति की तह में शर्म कूट-कूटकर भरी न रहती, तो किस सर का सिंदूर सुहाग का तिलक रहता ? सुहाग की पतवार तो उसकी शर्म है—प्रेम नहीं।"

हाँ, तो देवी बाबा इस तूफ़ान में भी अक्षयवट की तरह टिके रह गए। उस कमसिन की कंबख्ती से उन पर कोई आँच क्या आती !

मगर हाँ, जब एक दिन, बरसों बाद उस नमकहराम टहलुए ने ऐन देवी बाबा की बीमारी के वक्त चंद चाँदी के टुकड़ों के मोहवश उनकी कोठरी का ताला तोड़ उनका सर्वस्व लूट लिया; उनके प्राणों के लहू से लिखी हुई, उनके जीवन का शेष संबल—दर्दभरी कविताओं की कापी—टूक-टूक कर न जाने कहाँ फेंक दी, तो उन पर वह सदमा आया कि जान लेकर ही गया। ज़बान नहीं हिली, मगर

उनकी शिथिल आँखों की बरौनियों पर टँगी हुई अश्रु-बूँदों में कोई भी दिलवाला पढ़ सकता था—

Blow blow thou winter wind !
Thou art not so unkind
As man's ingratitude ?

हम किसी जीवन को अलग से देखें, तो वह सरासर एक अभिनय-सा जँचेगा। आख़िर यह जीवन है भी तो एक अभिनय! जहाँ शुरू से अंत तक रोना ही रोना है, वहाँ भी एकाध पल सुनहला ज़रूर रहता है। बगैर उसके तो रोने में भी जान नहीं रहती।

देवीलाल के जीवन की कहानी बगैर हकीम तजमुल हुसैन की चर्चा के अधूरी-सी रह जायगी। दोनों में व्यंग्य और विनोद के कुछ ऐसे चोंचले चलते कि सुननेवाले दंग रह जाते। देवी बाबा की मीठी चुटकी बड़ी चुटीली पड़ती रही। यह भी एक जीवट का खेल है कि हृदय की तह में कितनी पीड़ाओं को पालते हुए भी उनकी जिंदादिली बराबर दून पर रही।

हकीम साहब हमारे यहाँ दरबारी नंबर अव्वल रहे। उनके इलाज की धाक थी; उनकी ज़बान की धूम थी।

मकान था लखनऊ । कह नहीं सकता, वे यहाँ कब आए और कैसे जम गए। मेरे होश के पहले की बात है। उनको अपने इलाज का तवक्का तो था ही, अपनी ज़बान का दावा भी था। किसी और हकीम या वैद्य को वे अपने सामने कुछ गिनते ही न थे। हमारे यहाँ के किसी मुंशी या मौलवी को भी पास फटकने नहीं देते। लगते उसकी ज़बान की भूल निकाल भद्द करने। बात-बात पर रंग बाँधते—

"दावा ज़बान का औ लखनऊवालों के सामने!
इज़हार बूए-मिश्क ग़ज़ालो के सामने!"

देवी बाबा उनके यहाँ बराबर उठते-बैठते रहे। थे भी दोनों एक ही डाल के बुलबुल। ज़बान का नाता भी नाता ही है। यही वजह है कि कुछ दिनों तक बड़ी मिल्लत रही।

जब हकीम साहब पर नई शादी का ख़ब्त सवार हुआ, तो लगे वे देवी बाबा से कतराकर चलने। पचास के पड़ोस में वे क़दम रख चुके थे। दो बेटों के बाप भी थे। यही एक ज़रा-सी आँख झिपने की बात थी। फिर भी उनकी उँगलियों पर कुछ ऐसे नुस्खे मश्क थे कि सड़े-सूखे को भी हरा कर दें। शायद यह भरोसा न होता, तो उस नादानी का कोई हीला भी न मिलता। बात जो हो गहरी दोस्ती होने पर भी देवी बाबा के ठुनुक स्वभाव से उनको

इतमीनान न था। समझते कि दोस्ती और है, दर्दशरीकी और! बस, उनसे छिपकर ही पैरवी करते रहे।

कहीं किसी गाँव में शादी की बातचीत चल रही थी। दरम्यान था उनका नौकर अब्बू। अब्बू कुछ ख़िदमतगार ही नहीं था—पीर, बावर्ची, भिश्ती, ख़र—सब कुछ था। था भी एक ही छुटा। बढ़िया से बढ़िया खाना तो वह बनाता ही, बातें बनाना भी कोई उससे सीखता। लगता कभी-कभी हकीम साहब को बनाने, तो लखनऊ का भाँड़ भी उसके सामने मात था। उसके पेट में पानी तो पचता ही नहीं—बात क्योंकर पचती! और हकीम साहब तो उसके हाथ में काठ के पुतले थे। उधर चंग पर चढ़ा उनका सर भी मूँड़ता रहा, इधर देवी बाबा के रू-ब-रू इस ख़ब्ती की वजह उनकी जैसी हजामत बन रही है उसका ख़ाका उतारकर मज़ाक भी उड़ाता। हमलोग हँसते-हँसते लोटपोट हो जाते।

एक दिन उसने कहा—"अजी, कुछ न पूछिए! हकीम साहब को तो न दिन चैन है, न रात। पसीने की कमाई उड़ी जा रही है, कुछ परवाह नहीं। घर से खर्च के लिए तार-पर-तार आते हैं, और चेहरे पर बल नहीं! जो शख्स रमज़ान में भी किसी बेकस के लिए एक डब्बल भी अपनी जेब से नहीं निकालता, वह आज शादी की लपक पर मालूम नहीं कहाँ का शाहख़र्च बना बैठा है। कोई लड़की का

मामू बनकर आता है, तो कोई लड़की का ख़ालू। और हकीम साहब उसे कभी सर पर बिठाते हैं, तो कभी आँख पर। पुलाव और मुर्वजन पकाते-पकाते तो हाथ पक गए। जो आता है, वह कुछ हड़प ही कर ले जाता है। कल जाने कहाँ का एक मुआ मसख़रा टपक पड़ा। पूछा—'तुम कौन हो भाई! कैसे इधर रुख़ किया?' तो लगा रोब गाँठने कि लड़की की अम्मा ने खुफिया भेजा है हकीम साहब का सिन दरियाफ्त करने को। और बस, हकीम साहब ने न आव देखा न ताव, चट बीस निकालकर नज़र कर दिए। वह और भी अकड़ गया। हमने भी कहा कि अच्छा, कर लो गुमान बच्चू, जो बदला न लिया तो अब्बू नहीं! पुलाव-कलिया चाभ, रुख़सताना जेब में डाल जब वह चलता हुआ तो आधे रास्ते में हमने उसे पकड़ ही तो लिया—'भले आदमी की तरह आधी रक़म गिन दो बड़े मियाँ, वरना अभी इसी सड़क पर खुदा याद करा देंगे!'—और बस, एक ही झिड़की में दस रखवा ही तो लिए!"

देवी बाबा ने छेड़ा—"ओ हो! तो क्या हकीम साहब शादी के लिए तैयार हो गए हैं?"

"तैयार? अजी साहब! वे सर और मूँछ के बाल तक काले कर चुके हैं!...हाँ, इस हड़बड़ी में ख़िज़ाब के धब्बे पेशानी और गाल पर जो पसर आए, तो क्या बताऊँ, चेहरा

भी काला हो गया है। आख़िर चले भी वो हैं मुँह काला करने! बस, लीजिए, वह आज ही हो गया, अभी शादी की तो दिल्ली दूर है!"

"तो आख़िर करीना क्या है अब्बू?"

"ईमान की पूछिए, तो हमें तो लगता है कि यह रुपए ऐंठने की बंदिश है। मगर हकीम साहब से कहे कौन? हम कहें तो लेने के देने पड़ें। हमने भी देखा कि हाँ-में-हाँ मिलाने में ही जान की पनाह है और बैठे-बिठाए कुछ माल की भी आमद है, तो लगा मुँह देख भर्रा देने—'वल्लाह! अभी हुज़ूर का सिन ही क्या है! इस खिचड़ी बाल को काला कर देना तो बाएँ हाथ का खेल है। रह गया दम-ख़म। वह अल्लाह का शुक्र है, यों ही काफ़ी है। ख़ैर, कुछ कमी भी हो, तो यह माजून और कुश्ते किस दिन के लिए हैं? यही न कि एकाध दाँत टूट चुके हैं! तो दाँत किसके नहीं टूट जाते? कुछ सिन पर तो यह मौक़ूफ़ नहीं! हम तो हुज़ूर से दस बरस छोटे ठहरे। फिर भी पीछे के दो दाँत गायब हैं। उससे क्या? आख़िर किसी के दाँत टूटने से कुछ उसकी कमर थोड़े ही टूट जाती है! और हुज़ूर के लिए सोने के दाँत लगा लेना ही कौन-सी बड़ी बात है!"

देवी बाबा उसकी पीठ पर हाथ मारकर बोले—

"शाबाश! ऐसा इस अक्ल के अंधे को शीशे में उतारा है कि भई वाह ! अच्छा, तो चल, हकीम साहब से हमीं कहेंगे।"

"ना-ना, हुजूर ! ऐसा न करें ! आप पर तो वे खुलेंगे नहीं, लगेंगे हम पर लाल-पीले होने कि इसी मुए ने जाकर दमामा पीट दिया होगा।"

"अरे नहीं, मुबारिकबादियाँ देने चलेंगे हम !"

"अच्छा, तो उनको लौट आने दीजिए ! आज तो वहीं जाने की तैयारी में बन-ठन रहे हैं। पता भी चल जायगा कि ऊँट किस करवट बैठता है !"

दो दिन बाद जब देवी बाबा हकीम साहब से मिलने चले, तो मैं भी साथ हो लिया।

रास्ते में ही भेंट हो गई और देवी बाबा ने छूटते ही छेड़ा—"मुबारिक, हकीम साहब ! मुबारिक, सुफैदी पर सेहरा ! बड़े क़िस्मतवर हो यार !"

"अरे भाई, मन के लड्डू फूटकर रह गए। शादी तो कट गई !"

"सच ? तो मुबारिक ! मुबारिक !!"

"अच्छा बना रहे हैं आप !"

"अजी, बनानेवाले की ऐसी-तैसी ! हज़ार-हज़ार मुबारिक ! शादी नहीं कटी, बला कटी, बला ! लाइए, दोस्तों को लड्डू चखाइए !"

"यह अच्छी रही ! यारों ने जेब कतर ली और आप—"

"अमाँ, आपकी जेब ही भर न कतरी ? नाक जो बच गई।"

"क्या बताऊँ मुंशीजी, मैंने उस ससुरे की जेब तो भरी, मगर यारों ने ऐसे कान भर दिए कि क्या कहूँ। साला कतराकर निकल गया।"

"ख़ैर, आबरू तो रह गई। सुना है न, बूढ़ा जब आबरू बेचता है, तो जोरू पाता है। कहीं जवान बीबी भी बुढ़ापे की लकड़ी हो सकी है ?"

"तो फिर हमारे दिन कैसे कटते हैं ?"

"सुनिए, बूढ़े के दिन अगर बीते दिनों के दामन थामकर निभ गए, तो वह बस गया। और कहीं उँगलियों पर सिंदूर रख किसी कुमारी का दामन थामने उठा, तो समझिए, मुँह के बल औंधा गिरा।"

देवी बाबा की बीमारी की चर्चा पहले ही आ चुकी है। उनके हाथ और सर बराबर काँपते रहते थे। वे चुप बैठे भी रहें, तो भी वह थरथरी किसी पैमाने पर जारी रहती। मेरे पिता ने इलाज की कितनी कोशिश की, मगर देवी बाबा न शहर के किसी नामी डाक्टर को दिखाने को तैयार थे—न उन्होंने यहीं किसी से जमकर दवा कराने पर कमर बाँधी।

पता नहीं, हकीम साहब ने कैसे उनको गाँठ लिया। देवी बाबा लखनवी ज़बान की फैयाज़ी में आ गए। लोगों ने कहा भी कि यह हकीम एक चंट है, आप कभी हाथ न आए थे—यह रुपए ऐंठने की बंदिश है, और कुछ नहीं। पर देवी बाबा ने यह कहकर कि 'मेरे पास है ही क्या,' हकीम साहब के हाथ, जो दस-पाँच उनके हाथ थे, दवा की तैयारी के लिए दे दिए। रियासत से वे कोई मदद लेने को तैयार ही न थे।

मालिश के लिए तेल तैयार होते-होते रुपयों की तलबी बढ़ी। देवी बाबा तो अपने लिए खुदा मियाँ से भी माँगने-वाले न थे। बस, पान-पत्ते के लिए महीने में जो छोटी-सी रक़म उनको मिलती रही, उसे वे बराबर हकीम साहब के हाथ सौंपते गए। पान-तंबाकू के बग़ैर वे ऐंठकर तो रह गए, मगर कभी ज़बान पर 'उफ़्' नहीं लाए। महीनों इलाज चला, मगर मर्ज़ ज्यों-का-त्यों बना रहा। और हकीम साहब का तकाज़ा दून पर उठता गया।

एक दिन की बात है। हमलोग तालाब के किनारे बैठ मछली का शिकार देख रहे थे। देवी बाबा भी मौजूद थे। जाने किधर से हकीम साहब आ टपके और एक अजब झुँझ-लाहट के साथ उन पर टूट पड़े—

"क्यों जनाब, आपने दवा के रुपए जो उस दिन दिए

थे, वे बाजार में चल नहीं रहे हैं।"

देवी बाबा एक छन चुप रहे। फिर हँसकर बोले—

"बात क्या है हकीम साहब ? इधर मेरा मर्ज़ भी चलने का नाम नहीं लेता !"

"बात तो साफ है। नीयत में अगर खोट न होती—"

"तो रुपए भी खोटे नहीं निकलते, क्यों ?"

बस, उसी दिन इलाज का सिलसिला बंद हो गया। आना जाना तो, ख़ैर, चलता रहा ; मगर आपस की वह बे-तकल्लुफी ठंढी पड़ गई।

× × × ×

दो महीने बाद एक नया किस्सा खड़ा हुआ। हकीम साहब छुट्टी लेकर घर जा रहे थे। उनका मकान लखनऊ के पास किसी क़सबे में था। जिस स्टेशन पर उतरकर वे घर जाते, उसी स्टेशन पर देवी बाबा के कोई परिचित सिगनलर थे। देवी बाबा उनके लिए कुछ आम के तोहफ़े भेजना चाहते थे। हकीम साहब जाने के क़बल जब मुझे देखने आए—मुझे कुछ जुकाम था—तो देवी बाबा आम की वह टोकरी लिए आ पहुँचे और उन्होंने हकीम साहब की कुर्सी के पास रख उसे साथ ले जाने के लिए बड़ी आजिज़ी से अर्ज़ की।

हकीम साहब की निगाह जो उस टोकरी पर पड़ी, तो एकबारगी उखड़ गए। उनको लगा कि यह बला कहाँ से

आई ! अजब तुर्श होकर बोले—

"तो जनाब ! मैं इसे सैकड़ों मील ढोकर आपके दोस्त के घर पहुँचा आऊँ ? देखता हूँ, आपकी समझ भी आपकी तक़दीर ही की तरह बोदी हो चली है !"

"मगर हकीम साहब, मेरा कसूर ? मैंने तो समझा कि आप उधर जा ही रहे हैं...."

"रहने भी दीजिए, मुफ्त आपका बोझ रियासत आज तक ढोती चली आई । आपने मुझे भी कोई लदुआ गधा समझ रखा है क्या ?"

देवी बाबा सुर्ख़ हो गए । बोले—

"गधा तो नहीं, आदमी समझता रहा । माफ़ कीजिए, भूल हो गई ।"

"आदमी ? तो किसी क़ुली का दर्जा दे रखा होगा !"

"जी नहीं, कुलीन का । मगर हाँ, मेरी समझ तो बक़ौल आपके मेरी तक़दीर ही की तरह बोदी हो गई है ।"

हकीम साहब कटकर रह गए । दाँत पीसते उठ पड़े । मेरे लिए नुस्ख़े भी नहीं लिख सके । हाँ, दूसरे दिन जब जाने लगे, तो शायद शर्म में पड़ उस टोकरी को मगवा लिया । इतमीनान देते गए कि स्टेशन पर उतरकर उनके दोस्त के क्वार्टर में पहुँचा देंगे ।

दो हफ्ते बाद जब हकीम साहब लौटकर आए तो

टमटम से उतर सीधे मुझे देखने आए। मुझे बुखार आ गया था। तार देकर हकीम साहब को बुलाया गया था।

देवी बाबा पास बैठे कुछ क़िस्से सुना रहे थे।

हकीम साहब जब मेरी नब्ज़ देख और नुस्खे लिख अपने डेरे पर जाने को उठे, तो देवी बाबा ने दबी ज़बान से पूछा—

"हकीम साहब! माफ़ कीजिएगा, वे आम तो आपने भिजवा ही दिए होंगे?"

"हाँ, हाँ, उसी वक्त।"

"मगर भाई तो लिखते हैं कि उनको कुल पच्चीस ही मिले और मैंने रखे थे सौ।"

"कमाल करते हैं आप भी! मेरे फरिश्तों को भी ख़बर थी कि आपने कितने रखे थे!"

"फरिश्तों को ख़बर थी या नहीं,—यह तो नहीं कह सकता, मगर आपके नौकर को तो ख़बर ज़रूर थी हकीम साहब!"

"यह ख़ूब! अब्बू के हाथ देने गए थे न आप! मैं पूछता हूँ, उसे अपनी चीज़ों की भी ख़बर रहती है कभी! बस, मुंशीजी, रह गए आप यूँ ही। इतनी अक़्ल भी न थी कि सामने गिनकर हमें सौंपते!"

"ख़ैर, अक़्ल ही रहती, तो हुज़ूर के साथ थोड़े ही भेजने जाता!"

हकीम साहब ने गौर से देवी बाबा का मुँह देखा। फिर बड़ी-बड़ी आँखें निकालते हुए बोले—

"अच्छा! तो आपका इशारा यही है न—चंद घंटों में हम इतने आम हज़्म कर गए!"

"मुझे आपके हाज़मे की गुंजाइश का तो पता नहीं। हाँ, आपसे ही सुन चुका हूँ कि आपकी हाज़मे की गोलियाँ कमाल करती हैं!"

सब लोग हँस पड़े। हकीम साहब तो तैश में चल दिए। थोड़ी देर बाद, जब उनका नौकर अब्बू दवा की शीशी लेकर आया, तो देवी बाबा उसके सिर हो गए—

"क्यों जी! वे आम आखिर हुए क्या? तुझे तो हमने गिनकर दिए थे।"

"हाँ, और क्या! जैसे हमारे वश की ही तो बात थी!"

"तो फिर!"

"हम ठहरे...आप हकीम साहब से दरियाफ्त करते साहब!"

"यह न होगा! तू डरता काहे को है? अच्छा, कह तो सही, हकीम साहब ने कितने हज़्म किए?"

"भला साहब! हज़्म करने से वास्ता? जान-बूझकर वे एक भी छूते तो आप उनके कान थामते। वे आम ही कुछ ऐसे हाथ धोकर उनके पीछे पड़े कि बेचारे को हाथ धोने तक का मौका नहीं दिया। बस, बेधड़क हलक की राह

—समझ रखिए कि बे-बुलाए ही—पेट में घुस पड़े। लगे ऊधम मचाने, तो आख़िर करते क्या! जान पर खेल उन्हें किसी तरह चलता किया। खुदा जानता है, हकीम साहब तो बराबर चाहते रहे कि आपके एक-एक आम सही-सलामत आपके दोस्त के यहाँ पहुँच जायँ। मगर खुदा को मंजूर हो तब तो!"

"आख़िर ख़ुदा मियाँ ने कैसे टाँग अड़ा दी भाई!"

"क़िस्सा यों है। आप तो जानते ही रहे कि हकीम साहब बेचारे बड़े पशोपेश में पड़ गए थे। उनका अपना असबाब तो था ही, आमवाली टोकरी भी वज़नी थी। कुली और इक्के के अलावा रेल के महसूल की भी एक खुटक बनी थी। खुल्लमखुल्ला माँगना भी बनता नहीं रहा। किसी ऐसे-वैसे की बात रहती, तो मियाँ उसकी गर्दन थाम वसूल कर लेते। हकीम साहब के साथ कभी लिहाज़ और मुरव्वत की शिकायत रही नहीं, पर हुज़ूर ठहरे उनके आक़ा के सरो-कारी। आपसे ज़रा-सी बात के लिए ज़बान खोलने में उनको शर्म थी। हमने कहा भी कि दिल कड़ाकर माँग ही लीजिए, कोई कशमकश नहीं। वह हाँ—हूँ कर तैयार भी हो गए थे। मगर सुबह जाने क्या सोचकर कहा कि नहीं अब्बू! बड़ा भारी मालूम होता है माँगना। हमने कहा कि बोझ भी ता कुछ कम भारी नहीं है; तो लगे मिमियाने कि

'हाँ, सो तो है, मगर जब ज़बान दे आए तो फिर एक शरीफ़ की बात ठहरी ! अच्छा, देख तो सही ! एक सूरत तो निकल सकती है ! खाने-पकानेवाले बरतन तो साथ ले चलने की ज़रूरत नहीं। यहीं कहीं रखता जा। अब हमारे असबाब ही कितने होंगे—दो बक्स, बिछावन, बस, यही न ! कुछ अल्लमग़ल्लम तो साथ लेते नहीं। टिकट दो होंगे ही—हमारे और तुम्हारे ! आमवाली टोकरी भी टिकटों के अंदर खप जाय, तो ताज्जुब नहीं। बस, ले, तू टोकरी माँग ही ला ! जैसे-तैसे ले ही चलना ठीक होगा !'

"उसी दिन जाने की बात रही। हमने टोकरी लाकर कोठरी में रखी ही थी कि हकीम साहब ने पुकारकर कहा—'हाँ रे अब्बू ! उसे एहतियात से रख दिया है न ? देखियो, दूर-दराज़ की बात है और चीज़ ठहरी एक दोस्त की। ईमान की तरह बचाकर रखियो ! और ले, अब सवेरे ही सब बाँध-बूँध कर तैयार हो जा। बक्स-बिछावन भी आँगन में रख; और हाँ, दिन का खाना तो पकाना ठहरा। तो बस, ऐसा कर कि दो रोटियाँ कर ले। रातवाला कलिया तो कुछ होगा ही, उसे गरम कर लेना !' मैंने कहा कि वह तो कुछ बचे नहीं साहब, तो भिन्ना पड़े—'अबे, तू जाकर देख भी तो सही, एकाध बोटी तो होगी ही। दूर की सफ़र ठहरी। पेट कसा रखना तो ठीक नहीं।'

"हम यह कह देते कि आख़िर हम भी आदमी ही ठहरे ! दो-तीन बोटियाँ तो कुल बच ही रही थीं। खा ही गए तो कौन ऐसी नियामत खा गए ! यों कहने को कोई चाहे जो कहे, लेकिन ख़ुदा गवाह है कि कभी उनकी पसंद की चीज़ों पर तबीयत गुदगुदाई हो। फिर भी यह सुनते रहना कि तेरे लिए तो आलू के काश रख ही छोड़े हैं, भला आप ही कहें, यह कोई बात है ? हम भी क्या याद करेंगे कि कोई मियाँ था हमारा—मगर ज़बान तक उठी झुँझलाहट को पीते हुए बोले कि उसे तो साहब, जाने बिल्ली कब चट कर गई ! क्या करता, सुबह ही दो आने की कलेजियाँ ख़रीद लीं।

"बस, कुछ न पूछिए, हकीम साहब खुश हो गए। ख़ैरियत थी कि बाज़ार में कलेजियाँ मिल गईं। वरना रातवाली रोटियों का ख्याल कर पैसे निकालते हकीम साहब का कलेजा निकल आता। कलेजियाँ तो उनकी माँ ने घुट्टी के साथ खिला दी होंगी। दिल से चाहते हैं वे। ज़रा हँसकर बोले—'अच्छा, कलेजियाँ मँगा ली हैं ? पैसे की तीन आती हैं न ?' और वे लगे उँगलियों के पोर पर गिनने—'तो बता वो कितनी रहीं ? आने पर दर्जन पड़ीं न ? तो दो दर्जन—यानी चौबीस। अच्छा, तो ले, इन्हें पतली आँच पर भून डाल'।"

"चल, हट भी ! भला, वे कलेजियों का हिसाब रखते होंगे !"—देवी बाबा ने हँसकर कहा।

"अजी साहब, गोलमिर्च और नमक की डलियाँ तक गिनते हैं वे। हाँ, तो सुनिए। जब दिन में खा-पीकर वे हुक्का गुड़गुड़ाने बैठे, तो हमने देखा कि हकीम साहब की आँखें कुछ डूबी-सी नज़र आती हैं। रह-रहकर वे कश लेते और ठहर-ठहरकर धुआँ छोड़ते हैं। हम समझ गए कि हो न हो, हकीम साहब के दिल में कोई मसला पेश है और वह हल नहीं हो रहा है। जब उनके मुँह से हुक्के की नली एकाएक छूट गई और वे सिर थाम एक अजीब आलम में बैठ गए, तो समझने को बाकी न रहा कि वह आम की टोकरी अभी सर से उतरी नहीं है। और वल्लाह निकली भी वही बात। वे चट चारपाई से उतरकर कोठरी में घुस टोकरी को घसीटकर बाहर लाए। लगे उसके वज़न का अंदाज़ लगाने। हमने कनखी से देखा, तो उनका अंदाज़ ही कुछ और था। आखिर बिलबिला पड़े—'अबे ओ अब्बू ! इसे बिस्तर में न बाँध रख ! यों अगर चेकर पकड़ लेगा, तो ?' हमने कहा कि हाँ साहब, तरकीब तो आपने अच्छी बताई, मगर तमाम आम तो टोकरी में खुश-फैल से आते नहीं। ढक्कन भी नहीं बैठ पाता। देखिए न, कितने पिस जायँगे !

"हकीम साहब लगे उसे आज़माने। 'अच्छा, ऐसा कर, इस ठूस-ठास से फ़ायदा नहीं। ये सात आम हम निकाल ही लेते हैं! 'बस, ढक्कन बैठ गया। अब तू इसे बाँध ही डाल। हाँ, ज़रा कसकर न बाँधियो—यों, बस, समझे न?'

"और हमने उस टोकरी के चारों ओर दरी लपेट बिस्तर का बंडल बना डाला। टोकरी थी गायदुम। किसी तरह एक भद्दी-सी गठरी की शक्ल हो गई और हकीम साहब उसे बीसों बार हिला-डुला इतमीनान कर बैठ गए। हमने पूछा कि आख़िर शाम के लिए भी तो कुछ पका रखना होगा? परौठे तल दूँ? बाज़ार से अंडे मँगाए लेता हूँ, तो खीझ-से पड़े—ना-ना, पागल कहीं का! यह सब तूल नहीं। ऊँटगाड़ी का तुझे तजरबा नहीं है। चिराग़ जलते ही जाकर बैठ न गए, तो फिर भीड़ में करवट बदलने को जगह न मिलेगी। रातभर की सफर ठहरी। और वह कहाँ की दकियानूसी छकड़ा गाड़ी है कि नस-से-नस बजाकर धर देती है। ऐसी हालत में कभी कोई खाना हज़्म कर पाएगा? फ़ौरन आँत उलटकर धर देगी! बस, यह सब खाने-पकाने का बखेड़ा ताक़ पर रख। हाँ, अगर भूख ही लगी, तो आख़िर ये आम, जो टोकरी में आ न सके, उन्हें बेकार फेंक देना तो कोई अक़्लमंदी की बात नहीं।' हमने कहा—'जी हाँ, टोकरी में जगह नहीं मिली, तो इसका

यह मानी नहीं है कि किसी के पेट में भी जगह नहीं मिलेगी!' हकीम साहब ज़रा तिनक-से गए—'अबे, तू है बड़ा पेटू। हम तो यह समझे रहे कि तू कहेगा कि इन्हें मुंशीजी को वापस कर दिया जाय।' हमने कहा कि 'भला, हकीम साहब, यह टके के आम खाया ही तो क्या, न खाया तो क्या? आप भी लगे बाल की खाल खींचने!'

"हकीम साहब बोले—'अच्छा भाई, ले, रख दे। भूख लगी, तो देखा जायगा।'

"और बस, साहब, जब सरकारी ड्योढ़ी पर पाँच का घंटा बोला, तो हमने तमाम चीज़ें बाँध-बूँधकर आँगन में ला रखीं। देखा, हकीम साहब इतमीनान से बैठे आम धो-धोकर एक तौलिये पर रखे जा रहे हैं। इधर निगाह जो पड़ी, तो कुछ झेंपते-से लगे तुतलाने—'अच्छा, ले, हम तो अभी खाए लेते हैं। कोई झंझट न रहे। बाकी एकाध जो बच रहेंगे, तू खा लेना। हाँ, ज़रा वह छुरी और रिक़ाबी तो ला दीजियो। बग़ैर तराश के खाए तो कोई लुत्फ़ नहीं।'

"और वे तराश-तराशकर लगे जो खाने तो मत पूछिए। एक-दो-तीन-चार चट कर गए। बोले—'आम तो ख़ैर, मीठे नहीं, मगर कुछ ऐसे बुरे भी नहीं; अच्छा, वह हाज़मेवाली गोली तो निकालकर देना।'

"और जब बक्स खोल गोली की शीशी निकाल बाहर आया, तो देखता हूँ, कि आप पाँचवें पर भी हाथ धोकर पड़े हैं। बस, बच रहे दो। और क़सम ख़ुदा की, हमारी आँखों से लहू उतर आया। दो बत्तख़ के अंडे के बराबर दुबले-पतले आम तो उन्होंने रख छोड़े थे, और पाँच जो ज़रा ख़ासे अच्छे थे, उनकी शिकम की तह में जा चुके थे। हमने भी समझा कि यह गुनाह बेलज्ज़त—बस, ऊँट के मुँह में जीरा होगा। बोले—'हमें नहीं चाहिए साहब! भूख नहीं है। तीसरे पहर जो रोटियाँ खाईं, वे अभी ज्यों-की-त्यों हैं।'

"हकीम साहब कुछ उमड़-से पड़े—'तो ले, तू ही यह गोली खा डाल। जब तुझे भूख नहीं तो आख़िर ये बाक़ी दो भी हमीं खा लेंगे।'

"चिराग़ जले भी न होंगे कि हकीम साहब तमाम सामान लेकर ऊँट गाड़ी पर आकर बैठ ही तो गए। गाड़ीवान का कहीं पता न था। उसकी बीबी सराय के एक कोने में बैठ खिचड़ी पका रही थी। बोली—'गाड़ी तो आठ बजे के बाद खुलेगी। इतने सबेरे आप आ ही गए, तो कहीं लेट रहिए।' हकीम साहब तो हाथ में तसबी लिए लेट रहे। हम लगे उससे कुछ छेड़छाड़ करने।

"आठ बजे के बाद जब कहीं गाड़ीवान आया, तो गाड़ी खुली। मुसाफिर दो-चार ही थे। हमलोग इतमीनान से बैठे

रहे। मगर भूख इतमीनान से रहने दे तब तो! जैसे-तैसे दो घंटे तो कटे। मगर रात कटना पहाड़ हो गया। पैसे की रामदाने की लइया भी पास रहती, तो चलो, खैर, एक शाम वही सही। हमने देखा कि अब लिहाज़ किया तो जान से हाथ धोने पड़े। हकीम साहब से पैसे माँगना बैठे-बिठाए मौत माँगना है। बस, अब ऐ अब्बू! कड़ा कर दिल को—निकाल उस टोकरी को—एकाध आम और किसी के पेट में गए, तो कोई आसमान न फट पड़ेगा!

"हमने चट बंडल खोल उस टोकरी को अलग किया और ज्यों ही ढकन उठा हाथ डाला, तो पके हुए आम की खुशबू हकीम साहब की नाक में गई और वे, लेटे हुए थे, सो चट उठ बैठे। लगे आँखें फाड़ पूछने—'हैं, हैं, यह तू कर क्या रहा है?' हम कुछ झुँझलाए-से बोले—'अजी साहब! भूख नहीं सहाती। करूँ क्या? पैसे भी पास रहते, तो अगले पड़ाव पर कुछ चना-चबेना ही खरीद लेता।'

"हकीम साहब झल्लाते हुए बोले—'खुदा भला करे तेरा! चलते वक्त कहा भी नहीं तू ने। दो-चार डब्बल ऊपर निकालकर रख लेता न! मगर हाँ, पैसे भी रहते तो इस वीरान में कहीं कुछ मिलने को है? तेरे लिए रात में कोई दूकान खोल बैठा होगा? बस्ती भी तो कहीं सड़क पर नज़र नहीं आती, और ऊँटवाला ही कब राज़ी होगा कि एक के

लिए तमाम मुसाफिरों को खटाई में डाल गाड़ी रोक रखे। एक तो गाड़ी देर कर खुली। रास्ते में भी रुक पड़ी, तो सुबह की गाड़ी हम पकड़ चुके! जानता है न, पच्छिमवाली गाड़ी पौने सात में खुल जाती है!'

"हमने कहा कि आप बक्स खोल पैसे तो निकालिए। गाड़ी पकड़वाने का जिम्मा हमारा।

"अरे पैसे रहे कहाँ? नोट-ही-नोट तो हैं। कह तो सही, कहाँ तोड़ाता फिरेगा इन्हें? इस वीरान में नोट के रुपए कहाँ मिलने को हैं?—और फिर रुपए की रिज़कारियाँ? हाँ, जब तूने ज़िद कर टोकरी की रस्सी खोल ही डाली, तो एकाध आम निकाल ही डाल! मगर मैंने कहा, भाई मेरे, खुदा रसूल का नाम ले, कान थाम, माफी माँग कि फिर ऐसी ग़लती न हो। अल्लाह न करे, दुश्मन भी ऐसी मुश्किल में पड़े। हमारी हालत तो अजीब हो रही है। ये आम हमारे नहीं, धरोहर हैं। ज़बान दे आए हैं इन्हें मुंशीजी के दोस्त के घर पहुँचा देने का। मगर वाह रे मेरे मौला! तूने कैसा इमतहान खड़ा कर दिया! हम अपनी ज़बान देखें या एक भूखे की जान? नहीं भाई, एक ग़रीब का सताना हमसे न होगा। ईमान पर आँच आए तो आए, पर किसी ग़रीब की जान पर आँच आए, यह हमसे देखा न जायगा, खुदा दरम्यान है कि हम सीने

पर पत्थर रख तुझे यह आम दे रहे हैं। अब वही हमारी इस कशमकश को समझेगा।' और हकीम साहब ने चटहाथ की तसवी माथे से लगा ली।

"हमने तीन-चार आम चुनकर निकालकर धर दिए। छुरी का इंतजार कौन करे! लगा भंभोड़कर रस चूसने। हकीम साहब लगे तसवी के दाने गिनने और रह-रहकर हमें घूरने। एकाएक तबीयत जो गुदगुदाई तो जरा तिनककर बोले—'अरे भाई, खुदा के वास्ते एकाध आम इधर भी तो फेंक। भूख तो हमें भी बराबर लगी है। और जब तेरी वजह झख मारकर अहसान सर पर उठाना ही पड़ा, तो एक के लिए लिया या दो के लिए लिया—दोनों बराबर है। जान भी तो सब की बराबर है—हमारी रही या तुम्हारी।' और हकीम साहब ने चटपट अपनी जगह से उठ दो आम चुनकर निकाल लिए और लगे इतमीनान से खाने।

"ख़ैर, खुदा-खुदा करते रात कटी। सुबह पाँच बजे स्टेशन पहुँचे, तो गाड़ी में अभी देर थी। जैसे-तैसे गट्ठर बाँध कुली के सर पर रक्खा।

"प्लाटफार्म पर पहुँच हमने गट्ठर जो खोला, तो देखा कि टोकरी खुली पड़ी है। एकाध आम पिचकर पलँग की चादर से चिपट गए हैं। रात चलती गाड़ी में जो यों

ही समेटकर रख दिए, उसी लापरवाही का यह नतीजा है। हकीम साहब की जो नज़र पड़ी, झल्ला-से पड़े। 'अबे ओ नवाब के नवासे! यह क्या कर रखा है तू ने? रात टोकरी का मुँह खुला रख छोड़ा था न? ले, अब चादर कहीं कुएँ पर जाकर धो डाल—हैं-हैं, यूँ नहीं—तोशक तकिए से भी रस चिपट न पड़े—चादर का एक छोर थाम—और क्या—हाँ, इस तरह। तो ले, अब धो ही डाल। अभी गाड़ी में पौन घंटे से कम देर नहीं। सामने जो ठेलागाड़ी पड़ी हुई है न, धो-धाकर उसी पर फैला दे। हाँ, ज़रा रगड़-कर हाथ दीजियो—धूप खुल आई है—सूखने में देर तो होगी नहीं। मगर खुदा के वास्ते ज़रा देख तो भाई मेरे, यह आम तो बेतरह पक चले हैं। अभी तो हमें बनारस उतरना है—चचा को लिख चुके हैं। लखनऊ तो कल तक पहुँचने का क़रीना नहीं। कहीं चची बनारस में रहीं तो ज़रूर एकाध वक्त रोकने की कोशिश करेंगी। जब भेंट होती है, अपने हाथ की बिरियानी खिलाए बग़ैर छोड़तीं नहीं। तो ये पके आम सड़कर लगेंगे बू देने। मुंशीजी को चाहिए था कि हरे-हरे चुनकर रखते। जानते रहे, दूर की सफ़र है। मगर अक़्ल से उनको सरोकार ही कब रहा? हाँ, ज़रा देखियो तो सही, कितने घुलकर गुलगुल हो चले। जो ज़्यादा घुल गए हों, उन्हें छाँटकर अलग करना है। उन्हें फ़ौरन फेंक

न दें तो उनकी सुहबत से बाक़ी आम भी लगेंगे सड़ने। पता भी नहीं, मुंशीजी ने कितने आम रखे थे। हमें गिनकर समझा भी दिए होते, तो एक हद तक हमारी जिम्मेवारी होती।'

" 'मगर हमने तो उनके सामने गिन लिए थे—सौ में दो-चार ही—'

" 'यह सुनो, तुझे गिनती कब आई? कभी स्कूल में बैठा भी था तू? बता तो सही, अस्सी पर नौ कितने होंगे?....हाँ, ज़रा देखना तो, ऐसे गुलगुल आम कितने होंगे?...नहीं, नहीं, रहने दे तू—हमीं छाँटकर अलग किए देते हैं।...आठ-दस तो किसी मसरफ़ के रहे नहीं। किसी के घर तोहफ़ा जायगा, तो आखिर वह क्या कहेगा कि कैसे आम भेजे हैं! मुंशीजी की भद्द तो होगी ही, हम पर भी एक छींटा आएगा कि कहाँ से ये सड़े आम तीन सौ मील से ढोकर लिए आ रहे हैं!'

"बस, जनाब, हकीम साहब का रुख़ देख हमने हिम्मत बाँधी। कहा—'मगर साहब, फेंकने से तो अच्छा है कि किसी के काम ही आ जाय—अभी बू तो देने नहीं लगे हैं।'

"हमने समझा कि हकीम साहब बड़े नाज़ुक मिज़ाज आदमी हैं। ज़रा-सा भी जो आम जवानी से उतर गया होगा, उनकी निगाह में बेकार हो जायगा। मगर हम ठहरे

भुक्खड़—सड़ा-पका भी खा लें, तो कोई मुज़ायका नहीं। तो चलो, इलाही ख़ैर, हमीं हाथ साफ़ करें।

"बस, हम अपनी ऐन मुद्दआ पर आ ही रहे थे कि हकीम साहब एकबारगी कह उठे—'ख़ूब भई ख़ूब! हो तुम भी एक ही हुशियार! राय तो अच्छी बताई। जब दो-चार घंटे में इन्हें फेंक ही देना होगा तो हमीं न चटपट नाश्ता कर लें। देर होती है, तो फिर इन्हें जानवर भी नहीं पूछेंगे। तो ले, एक रूमाल में इन्हें अलग बाँध रख। बस, बारह तो रहे ही। चार तुझे दिए देता हूँ। बाकी ये आठ हमारे पास रहें। जी चाहा तो गाड़ी में एकाध, अच्छे निकले तो, चख लेंगे।'

"और हकीम साहब ने बाँट जो लगाई, तो बड़े के लिए बड़े रखे और छोटे के लिए छोटे। मालिक बड़ा है, नौकर छोटा। अल्लाह मियाँ ने किसी का मुँह बड़ा और किसी का मुँह छोटा बनाया, तो पेट भी बड़ा और छोटा रखते। मगर उसे तो बराबर कर एक अजब हंगामा पैदा कर दिया।

"ख़ैर, कोई बारह बजे गाड़ी बनारस आई होगी। इंटर से हकीम साहब का असबाब उतारा तो देखा—रूमाल ख़ाली है। लगे खुद सफ़ाई देने—'अरे भाई, क्या बताऊँ, मियाँ नयाज़ अली गाड़ी में मिल गए। पटने से फैजाबाद

जा रहे थे। अब कह तो सही, हमसे कब मुमकिन था कि हम सामने बैठ खाते रहें और उनको पूछें तक नहीं। बस, 'एक काश चखिए न!'—जो ज़बान से आया तो आस्तीन चढ़ा टूट ही तो पड़े। आधे दर्जन साफ़ कर गए। हमें तो कुल दो ही मिले'।"

अब्बू की बातों में रस आने लगा था। उसकी ज़बान के जादू ने हकीम साहब की फ़िल्म खड़ी कर दी। नहीं तो किसे पड़ी थी उस लंबी-चौड़ी सफाई से सर खपाने की?

देवी बाबा ने पूछा—"भाई, यह नयाज़ अली कौन है?"

"खुदा जाने यह कौन है! स्टेशन के बाहर मुसाफिर-खाने में हम सरंजाम लिए ठहर गए। हकीम साहब तो इक्के पर सवार अपने चचा की तलाश में चल पड़े। कहते गए कि चचा मिल गए, तो इसी इक्के को लौटा देंगे, तू असबाब लिए चले आना। हम भूखे-पियासे लगे बाट जोहने।

"दो घड़ी भी न गुज़री होगी कि हकीम साहब गर्द और गुस्से से भरे वापस आ गए। चचाजान तो कल शाम ही की ट्रेन से लखनऊ चले गए थे। चचीजान भी रहीं नहीं। आठ आने इक्के के बेकार गए। कुली का जो लगा, वह अलग। ख़ैर, होता क्या? असबाब कुली के

सर पर रख हमलोग फिर प्लाटफार्म पर वापस आए। पच्छिम की गाड़ी आनेवाली ही थी। ऐन उसी छन पूरब-वाली गाड़ी दनदनाती हुई आ पहुँची और हमारा कुली—'आवत हौं साहेब'— कहता हुआ प्लाटफार्म पर बिस्तर और बक्स पटक उस पार दौड़ गया। बिस्तर की लपेट से टोकरी दूर जा पड़ी। एकाध आम तो पिच गए। कुछ इधर-उधर बिखर पड़े। हमारी बदनसीबी थी कि स्टेशन-मास्टर का एक छोटा बच्चा वहीं गोली खेल रहा था। चट उसने दो आम उठा लिए। हम में किसी को क्या पता था कि यह ढीठ छोकरा किसी ज़ातशरीफ़ का नौनिहाल है! हकीम साहब ने लपककर उसके हाथ ऐंठ आम जो छीनना चाहा, तो वह ऐसा चीखा कि एक क़िस्सा खड़ा हो गया। स्टेशनमास्टर ख़ुद निकल आए और बच्चे को गोद में उठा लिया। हम पर मुड़े तो, लेकिन टिकट जाँचने और माल तौलवाने के अलावा दिल का बुखार उतारने का कोई और हथियार न मिला। मगर यह हथियार भी तो कुछ कम चोखा नहीं था। हकीम साहब हजार चिल्लाते रहे कि असबाब टिकट के अंदर ही खप जायगा, मगर जब साहब बहादुर के मिजाज़ का काँटा चढ़ा था, तो तौल का काँटा कुछ और थोड़े ही कहता? हम पर कोई पौने दो रुख ही दिए गए।

"यह पौने दो की चोट करारी पड़ी। हकीम साहब ऐंठ गए और गुस्से से घूम गए आम पर—'कहाँ-से-कहाँ हम यह जंजाल लाने गए। चले थे भला करने, फँसा डाला अपना ही गला। इक्के और कुली का तो दे ही चुके, और कहाँ-कहाँ देते चलें! चुंगी भी बाक़ी ही है। जितने के ये आम न होंगे, उससे कहीं ज्यादा तो महसूल बैठ गए। आम किसके, खायगा कौन, और जुर्माने बैठे हमारे सर! वह भी चवन्नी-अठन्नी नहीं—पौने दो रुपए! मुंशीजी की जेब से तो एक टका भी नहीं गया। सरकारी बाग़ के आम ठहरे—मुफ्त! हम अपनी सादगी में कह आए कि यह तोहफ़ा उनके दोस्त के घर पहुँचा देंगे। मगर हमने यह कब कहा कि चुंगी और टिकट भी हमीं देंगे? बोझ भी ढोएँ और ढोलाई भी दें! कुछ अपनी जेब से देने की तो बात न थी! नहीं साहब, यह नहीं होने का। हमें भी बाल-बच्चे हैं। चूल्हे-भाड़ में जाय यह तोहफ़ा! बस, मुंशीजी की जैसी नीयत थी, वैसी बरकत भी होगी। काश, ये आम लखनऊ पहुँच नहीं पाते हैं, तो वजह साफ़ है कि उन्होंने हमारी शराफत का नाजायज़ नफा उठाना चाहा था। और बाबू साहब कहते चलेंगे कि हमने आम पहुँचाए नहीं, रास्ते में हज़म कर गए। अजी साहब, अपनी आँख का माड़ा नहीं देखते, चले हैं दूसरे की आँख की फूली देखने! हम ऐसे सीधे मिल गए हैं न? बस, हमारे

सर पर आम की टोकरी रख चले थे मुफ्त का एहसान लूटने। भला, यह सितम तो देखो, एहसान हो उनका और नुकसान हो हमारा! तौबा करो, ऐसे बुद्धू हम नहीं हैं। हमारा वसूल यह बराबर रहा कि कोई सचाई का बरताव हमसे करे, तो हम भी उसके साथ वैसा ही बरतने को तैयार हैं। मगर हाँ, कोई पुचकारकर चाहता है हमारे सर पर अपना पासा फेंकना, तो हम भी बस, जूतों से जवाब दें—हाँ! ईमान की बात तो यह है कि इस पौने दो के जिम्मेवार वे हैं और जब वे खुद यहाँ मौजूद नहीं हैं, तो उनके आम तो मौजूद हैं! आम की वजह जुर्माना लगा, तो आम दें, हम क्यों देने लगे? क्यों बे, आई तेरी समझ में बात? ले, अब उठा इस टोकरी को और किसी कुँजड़े के हाथ बेच डाल पौने दो के आम। बस, हिसाब-किताब बराबर! आख़िर आम अच्छे ख़ासे मीठे हैं। सात या आठ रुपए सैकड़े से कम नहीं आते यह। बस, पचीस या तीस काफ़ी हैं—पौने दो मज़े में निकल आएँगे।

"हमने कहा कि भला ऐसी क्या बात है? ग़रज़मंद समझ कुँजड़े बेर के मोल ले लें, तो अचरज नहीं। बाज़ार जाने-आने में तो गाड़ी भी छूट जाती है। इससे तो कहीं बेहतर है कि लखनऊ पहुँचकर घाटा पूरा किया जाय। पूरब के आम हैं—लँगड़े। भाव भी अच्छा उठेगा।

"हकीम साहब हैस-बैस में पड़ गए। लगे गौर करने। दो मिनट माथा खुजलाने के बाद उछल पड़े—'वाह रे दिमाग़ और वाह रे उसकी सूझ! ले, एक सूरत तो निकल आई। दिन का खाना अभी किसी ने खाया नहीं है। आख़िर बाज़ार का ही भरोसा है न? शाम का नाशता और रात का खाना भी। तुम और हम, दो ठहरे। एक पाव गोश्त भी एक वक्त लेते हैं तो दोनों जून मिलकर आध सेर होंगे। आठ आने तो यही हो गए। रह गई रोटी और सब्ज़ी और शाम की चाय। तो आम ही क्या बुरे हैं! बाज़ारू खुंचों की गंदी चीजों की बजाय आज फल ही खाकर रहा जाय तो सेहत के लिए भी अच्छा है।...आख़िर बाज़ार में जाकर आम बेचना—वह आम जो एक दोस्त के लिए तोहफ़ा है—मुनासिब नहीं जँचता। यों तो हम भी एक दोस्त ही ठहरे। कुछ हमने खा ही लिए,सो यह तो एक दोस्त की चीज़ पर हमारा जायज हक़ है। तुझे याद होगा कि हमने सरकारी बाग़ से अमरूद मँगाए थे घर भेजने के लिए, तो मुंशीजी आकर एकाध चख गए, तो उनको यह हक़ था ही। हमारी और उनकी चीज़ में फ़र्क़ ही क्या है? हक़ की बात तो यह है कि, आम ढोने की मजूरी तो उनको देनी है। हम दोस्त ठहरे, मजूरी नहीं लेते, तो दो-चार खाने से भी गए? मगर हाँ, ख़बरदार! हरे आम पर हाथ न दीजियो! कुछ सौ-पचास तो हम खाते

नहीं। बहुत खायँगे तो पच्चीस या तीस। उतने तो हर हालत में कल तक पककर सड़ जाते। जो तोहफ़े के काबिल हैं, उन्हें तो हम छूते तक नहीं। और जो फेंक देने के ही काबिल हैं, उन्हें खाया तो, न खाया तो। अब किसी चुगले को शिकायत की जगह भी न होगी कि हकीम साहब जब आम ले जाने की ज़बान दे आए, तो पौने दो रुपए महसूल के लिए बाज़ार में वही आम बेचते फिरे। उन्होंने कमज़रफी की—महसूल नहीं दिया। तो खैर, हम अपनी शराफत से नहीं डिगते। अपनी जेब से महसूल दिए देते हैं। ज़बान के लिए नुक़सान उठाना पड़ा तो अल्लाह मालिक है।'

"बस साहब, दोनों जून के लिए बारह और नाश्ते के लिए दो यानी चौदह तो गिनकर हमें दे दिए और टोकरी उठाकर हमने उनकी गाड़ी में रख दी। जब टिकट लग चुका, तो फिर उसे बिस्तर में चुराकर रखने की हाजत ही न रही। हकीम साहब रास्ते में कितने खा सके—उसका हिसाब तो वही जानते होंगे। हम तो यही जानते हैं कि आधी रात के बाद हमारी नींद हराम हो गई। बस, कुछ न पूछिए, हकीम साहब का हाल क्या था? लगे जो आम दाँत गड़ा-गड़ाकर उनकी आँत खँखोरने—पल-पल पर आँव बनकर निकलने, तो फिर क्या अर्ज़ करूँ? वह मरोड़, वह तड़प, वह चीख़, कि खुदा की पनाह, एक क़यामत आ गई!"

इधर देवी बाबा और हम हँसते-हँसते लोट-पोट हो गए। फिर आगे का बयान कि किस तरह हकीम साहब डब्बे से उतारे गए—किस मुश्किल से डोली पर घर पहुँचाए गए—किस तरह चारपाई की बिनावट का एक हिस्सा उभारकर उसके नीचे मिट्टी की कड़ाही रखी गई—किस तरह तीन दिन लगातार आमों की शैतानी क्या रंग लाई—वग़ैरह-वग़ैरह सुनने का किसी को दम न रहा।

आख़िर यह आमवाली बात फूट गई। फूटकर एक ख़ासी चटपटी बन गई। बस, लगी कानों-कान चलने। उड़ते-उड़ते हकीम साहब के कान तक पहुँच गई। वे शर्म से लाल हो गए। भाँप गए कि अब्बू ने पोल खोलकर रख दी है। किसी और को तो पता था नहीं। कुत्ते की तरह उस पर टूट पड़े। उसी दिन उसे सूने हाथ घर वापस किया।

यह और बुरा हुआ। जाने के क़ब्ल वह गली-गली रोकर कहता फिरा कि खेत खाय गधा और मार खाय जुलाहा। बस, गई बात बढ़। गाँव के बच्चे भी लगे राह चलते छींटे कसने।

हकीम साहब तो आम के नाम पर क्रुद्ध बैठते। किसी ने जाकर कहा कि रात आम जो खाया, सो पचा नहीं, कोई गोली दीजिए, तो वे उछलकर उसे गोली मारने को

तैयार हो जाते। हाँ, वे जितने ही चिढ़ते, उतने ही लोग उन्हें बनाते। कोई कह बैठता कि बस, यार, आम तो बीजू हैं। वे मज़ेदार न हों, पर लँगड़े की तरह खूँखार नहीं। और हकीम साहब का बस चलता, तो उसका खून पी जाते। एक दिन खाँ साहब ने पूछा कि लखनऊ में आम का मुरब्बा कैसा होता है, तो भरे दरबार में हकीम साहब आपे से बाहर हो गए। तू-तू मैं-मैं से बढ़ती बात ले-दे तक चली गई और जब सरकार ने त्योरी बदली, तो कहीं जाकर ठंढी पड़ी।

हकीम साहब की नब्ज़ की पहचान की धाक उनकी तीखी ज़बान हज़्म कर चुकी थी। उनके नुस्ख़ों के करिश्मे भी ठंढे पड़ गए। एक तो उनकी ज़बान थी गरम मिज़ाज में पली, दूसरे नब्ज़ पर उँगलियाँ रखने के क़बल मरीज़ की जेब टटोलने की लत लोगों की नाकों में दम करने लगी। जब यह नतीजा आ गया कि हकीम साहब की सूरत देखी और मौत आ गई, तब लोगों ने समझा कि बला से किसी और के हाथ मौत ही आए, मगर इस जीते-जी मौत से तो जान बचे यही न कि मरीज़ अच्छा न होगा, मगर हाँ, जान जाने के क़बल फीस की फाँस में जान जाने से तो पनाह होगी!

हकीम साहब की एक अजब हरकत थी। उनके मरीज़ का बुख़ार उतरा और—'लो, चंगे हो गए!'—उसकी पीठ

टोकी—बस, कमरे में कोई चीज़ अगर पसंद आ गई, तो हँसते-हँसते उसे उठाकर चल देंगे। किसी ने टोका, तो उसी बेतकल्लुफी से कह दिया कि वाह! शुकाना न दोगे! एक रईस की पिलही जो कटी तो खूँटी पर कोई बढ़िया-सा दुशाला टँगा था उसे चट कंधे पर डाल चलते बने। लाला साहब की नज़र जो पड़ी, तो पिलही चमक उठी। एकाध बार तो ख़ैर, यह मज़ाक-सा लगा, मगर धीरे-धीरे मजाक लगा मर्ज़ होने। बकौल देवी बाबा के मरीज़ का अच्छा होना भी नया मर्ज़ होना चाहता है।

मेरे एक चचा के कोई संतान न थी। बरसों चची का इलाज और झाड़-फूँक चलती रही। हकीम साहब ने भी कोई अर्क-वर्क दिया था।

उस साल गरमी में एक बच्चा जो पैदा हुआ, तो हकीम साहब खुशी से उछलते-कूदते कमरे में आए और चचा पर मुबारकबादियों की झड़ी बाँध उनके सामने से एक कीमती गंगा-जमनी पानदान उठाकर चल दिए। बच्चा तो चंद घंटों के बाद जहाँ से आया था, वहाँ वापस हो गया। पानदान वापस न हुआ। चचा से कभी माँगते नहीं बना! हकीम साहब से कभी देते नहीं बना!

अजब यह मन की गति है। जब वह दाएँ से खिन्चता है, तो बाएँ से लगता है लिपटने। जिस मौलवी मेहदी

की धाक नहीं के बराबर थी और जो बेचारे ज़माने तक क़िस्मत आज़मा ऊबकर घर चल दिए थे,—आज लगे लोग उनका गुण गाने। हकीम हो तो ऐसा हो। कभी किसी को तू भी नहीं कहा। कौन कहता है कि उनके हाथ में यश नहीं था? उनको नब्ज़ की पहचान नहीं थी? बेनी का बाप बेचारा मर ही जाता! न फ़ीस ली और न दवा की क़ीमत; और दो पुड़िए में चंगा कर दिया। हाँ, उनके साथ लाम-काफ़ नहीं था और न यह लत थी कि किया दस, कहा पचास!

आख़िर हकीम साहब के सर से रियासत का साया भी उठने पर आया। मौलवी मेहदी के पास डाक में ख़त छोड़ा गया—यह दरियाफ्त करने के लिए कि वापस आने में उनको कोई खटक तो नहीं है।

हकीम साहब ने न जाने कैसे समझ लिया कि इस फ़साद की जड़ में मुंशी देवीलाल हैं। देवीलाल भी उनके ज़ुल्म के एक बिस्मिल तो ज़रूर थे, मगर वे क़ातिल कभी के न थे। क़ातिल थी हकीम साहब की अक्ल। शायद जब आदमी का दिन लगता है डावाँडोल होने, तो पहले उसकी समझ अपनी जगह से हिल जाती है। किसी ने कहा भी है कि क़िस्मत जवाब देने के पहले आदमी की अक्ल जवाब दे बैठती है। वही हाल हुआ।

हकीम साहब एक दिन बे-वजह देवी बाबा पर बरस पड़े। जो न कहने को, वह कह गए। भगवान जाने, वह क्या देख लेते, मगर धमकी थी कि देख लेंगे! और दूसरे दिन उन्होंने देवी बाबा को भी विरोधियों के दल में देखा। असंतोष के मुँह में ज़बान पड़ गई। जो पहले एक आसार था, वह अब गर्म बाज़ार हो गया।

हमारे यहाँ बिचली गली का कुआँ गाँव का क्लब है। बात वहीं से उठी और लगी खुल्लमखुल्ला ऐलान होने।

हकीम साहब ने तो समझा था कि एक डपट पर देवीलाल मिमियाती हुई भेड़ की तरह दुम सिकोड़ लेंगे। कहाँ उलटे वे शेर हो गए। पहले तो दरियाफ़्त के लिए डाक में एक ख़त डाल दिया गया था। अब वापस आने के लिए हकीम मेहदी को तार भेजा गया।

आख़िर मौलवी मेहदी साहब के आने का दिन आ ही गया। देवी बाबा तड़के अचकन और पाजामे में दुरुस्त चले उनको गाँव के सीवान पर उतारने। मैं उधर से टहलता जो आया, तो सड़क की मोड़ पर देखा कि देवी बाबा लपके चले आ रहे हैं। न जाने कहाँ से हकीम तजमुल हुसैन भी टपक पड़े। वे शायद हवाख़ोरी को निकले थे या गाँव की हवा लेने! देवी बाबा तो उनसे बचकर दूसरी ओर मुड़ चले। मगर हकीम साहब क़दम बढ़ा सामने आ

गए—"कहाँ चले मुंशीजी ! सबेरे-सबेरे किसी नए चमन की सैर है क्या ?"

"जी हाँ, सैर ही को जा रहा हूँ—नए हकीम साहब को लेने।"

"हैं, यह बंदिश ! मैंने तो समझा था कि आपलोगों के सर से वह भूत उतर गया !"

"जी हाँ, उतरा ही चाहता है। अब देर नहीं !"

और दूसरे दिन सचमुच गाँव के सर से भूत उतर गया। मियाँ तजमुल हुसैन बधना-बोरिया लपेट लखनऊ के लिए रवाना हो गए !

ब्रजभाषा की कविता मरी नहीं है। जीती है और जीती रहेगी। गोपियों के प्रेम की कहानी कभी ख़त्म होने की नहीं। मुरली की वह मधुर ध्वनि कभी बंद होने की नहीं। हम आज उसे सुनें या न सुनें, वह तो बजती रही है और बजती रहेगी। कवियों ने उसे कल्पना के पैमाने में भरा। भक्तों ने उसे दिल में उतारा। जिसने उसे कान देकर सुना, वह उस पर जान देकर रहा। उसे सुनने के बाद फिर और कुछ सुनने को जी नहीं उठा। जिस हृदय में मुरली की गूँज भरी है, उसे कामना के नूपुरों का शिंजन कहाँ तक छू सकेगा? हाँ, जब दिल के कान खुले नहीं, तो कोई उसे सुनेगा क्या ख़ाक? जो कान आठों पहर दुनिया की हलचल पर है, वह तो सुन नहीं पाता। जो मनचला कवि ब्रज की वीथियों में चंचल चरणों की झंकार को सुनता रहा, वह उस मुरली की टेर को कब सुन पाएगा?

गोकुल की वे रंगरलियाँ कभी थमने को हैं? उसी की बूँद ले-लेकर भक्त भी मस्त है, कवि भी रसलीन है। वह भक्ति की प्रेरणा भी है, काव्यकी स्फुरणा भी। जिसे आँख रखने का दावा है, वह आँखों में प्राण भर उसे देखे। दिल की आँखवालों के सामने वह आज भी ज्यों-की-त्यों है। उसे आँखों में रख पलकें मूँद ले—चूँकि उसे देखने के बाद फिर देखने को कुछ रहता ही नहीं। जो आँचल की छेड़खानी को देखकर रह गया, वह गया। शायद आँखवाला होने के लिए 'सूर' की तरह अंधा होना ज़रूरी है। उसकी आँखों पर जो रोशनी थी, वह आज किस आँखवाले को नसीब है? उसके हृदय में दर्द था। उसके भीतर रस की अनुभूति थी। उसने ब्रज की लीला देखी, मुरली की तान सुनी।

हाँ, मरने पर चली है कवि की वह वाणी, जो वासना के तलवे सहलाती अनुभूतियों की तह तक पहुँच न सकी थी और जो रह गई लालसा की सतह पर तैरती।

कवि की प्रतिभा जब करतालों की सस्ती सुराही की चाट पर ढल पड़ी, तो वह कभी अमृत का प्याला ढाल नहीं पाती। और राजाओं के दरबार में पेशवाज पहन ठुमुक-ठुमुककर कहीं भाव बताने लगी, तो फिर कला की कसौटी अमीरों की क़द्रदानी रह गई। वह भाव की भंगी

कुछ शोख़ी की अदा न रखती—कुछ लालसा की लौ न कुरेदती, तो फिर अमीरों की महफ़िल में उसे पूछता ही कौन ! मतिराम और बिहारी की क़लम उस युग की रईसी रुचि की तबलची न होती तो—'करत कोलाहल किंकनी मौन गह्यो मंजीर'—के सर पर काव्य की खिलत न बँधती। गोकुल के सावलील स्वाच्छंद्य के एक-एक पहलू को यारों ने अपनी उल्लंग लालसा की चाशनी में पाग काव्य का जो मज़ेदार मुरब्बा तैयार किया, उसका स्वाद आज भी हमारी ज़बान से नहीं गया।

हाय रे कन्हैया, ब्रजबोली के भाटों ने तुम्हें केलि की जिस साँकरी गली में घसीट अपने मन की खाज मिटाई, उसे कला की क्यारी कहते आज ज़बान थर्रा जाती है—

'या गोविंद रसप्रमोदमधुरा
सा माधुरी माधुरी—'

मैं पूछता हूँ, 'आज निशाभर प्यारे नशा भर कीजिए कान्हर केलि खुशी में'—इस पद में कौन-सी माधुरी पगी है ? क्या मीरा के पिया की सेज है यह—या उस परम भाव की माधुर्य रति ! आख़िर भक्ति की रति भावना तो कुछ ऐसी थोथी नहीं होती !

बस, यों ब्रजभाषा के काव्य की मार्मिक छानबीन हमारे यहाँ उसी वक्त शुरू हो चुकी थी। उसकी वज़ह है। मेरे पिता

खुद एक अच्छे कवि थे। फ़ारसी और उर्दू की शायरी से भी दिलचस्पी बराबर थी। अँग्रेजी के साथ-साथ बंग भाषा का भी वे बराबर अनुशीलन करते रहे। बँगला में तो कुछ लिखते भी रहे। उनके बनाए पद दरबार के मल्लिक अब भी गाते हैं। उर्दू का दीवान तो मीर साहब के हाथ था। उन्हीं के साथ रह गया। ब्रजभाषा का उनका काव्य कुछ और फुटकर चीजों के साथ छप चुका है। वह भी एक युग के बाद।

उनके दरबार में कवि और शायर तो थे ही, उस ज़माने के कितने धुरंधर विद्वान् भी थे। और अक्सर दरबार में काव्य की आलोचना जब चलती, तो दो-चार ऐसे निकल आते जो काव्य की प्रचलित प्रणाली के तीव्र समालोचक थे।

बूढ़े शरच्चंद्र चौबे कृष्ण के परम भक्त थे। वे अंग्रेजी के एक अच्छे विद्वान् भी थे। किसी ज़माने में मेरे पिता को उन्होंने अंग्रेजी पढ़ाई थी—इसीलिए सरकार के गुरु होने की वजह दरबार में उनकी एक ऊँची जगह थी। वे देवी बाबा की तरह लकीर के फकीर नहीं थे, उनकी भी अपनी एक निराली शान थी। कृष्ण की लीला की आड़ में कवियों की मनमानी ने जिस रस का फाग खेला है, उसे वे काव्य की छीछालेदर समझते रहे।

देवी बाबा से उनकी अच्छी बनती रही। और दोनों मिलकर कभी-कभी कवियों को आड़े हाथों लेते। बड़ी

सरगरमी से बहस होती। एक बार तो सरकार के सामने भी तकरार की नौबत आ गई थी। और शायद सरकार मौजूद न होते, तो वह कुछ और रूप लेती।

उस दिन दरबार में यही चर्चा छिड़ गई थी—ब्रजकाव्य की मधुशाला में कवियों ने अपनी कल्पना के जोश पर जिस मधु को खींच रखा है, वह तो शुद्ध रस नहीं, वासना के बाज़ार का ठर्रा है।

कवियों की खासी मरम्मत रही। दो दल छँट गए। एक ओर से वार था, दूसरी ओर से जवाब।

"अजी साहब! आप अभी इस रहस्य को कहाँ तक समझेंगे? इसे समझने के लिए दिल और दिमाग दोनों चाहिए। आप तो ठहरे उर्दू के शायर। जभी तो आप समझते हैं कि ब्रज की कविता भी विलास की गोद में पली है। उर्दू की शायरी महलों की बाँदी रही। नवाबों की मसनद की हवा में पनपकर जवान हुई। वह तो लबेबाम पर, शबेविसाल की शोखियों पर थिरकती है। भरसक हाली ने ऊबकर कहा है कि 'जहन्नम को भर देंगे शायर हमारे'!"

झट दूसरी ओर से जवाब आया—

"कविजी! उर्दूवालों ने क्या किया, क्या नहीं किया—यह बहस नहीं। वह जहन्नम को भरते हैं या जन्नत को—इससे मतलब? कम-से-कम जिसे हम 'गतिर्भर्त्ता

प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृद्' मानते हैं, उसकी शान में आपकी तरह किसी ने भद्दी छेड़खानी नहीं की।"

"अजी वाह! अच्छा कह रहे हैं आप! सूफी शायरों ने तो ईश्वर को माशूक बनाकर रखा है। भक्ति जब प्रेम में लय होती है, तब वह परमात्मा को प्राणप्रिय के रूप में, देख लगती है अंक में भरने। हमने यदि प्रीतम या साजन कहा तो क्या बुरा किया? आप इस प्रेमतत्त्व को खाक तो समझते नहीं—चले हैं छींटे कसने! हटिए भी! कहीं जाकर भैंस चराइए। सुना है न, वह पद—'गोपाल गोपालन पंडितोऽसि'।"

"खूब! पूरा श्लोक तो कह डालिए!"

"तो सुनिए—

मुंचांचलं चंचल पश्य लोकं
बालोऽसि नालोकयसि कलंकम्।
भावं न जानासि विलासिनीनां
गोपाल गोपालन पंडितोऽसि।'

तो आपकी नज़र तो बस, आँचल की छेड़खानी तक है। यह मधुर भाव का विलास आपके गंदे दिमाग़ में कभी आने को है?"

"जो हो, मगर गोपियों के स्तन और आँचल को छेड़ना हम कुछ सुलझी हुई कल्पना नहीं समझते। क्या इसी

छेड़खानी के लिए आपकी वाणी को प्रवाह मिला था ? आपके कल्पनाविलासी मन को बेचारी व्रज की वनिता ही आधार मिली ? क्या खूब ! कवियों ने कृष्ण के लीलानंद को कामियों का मदनरंजन बना डाला ।"

संत कवि ने गोपियों की दिल की लगी को बड़ी ख़ूबसूरती से समझाया कि प्रेम की भावना कांत भाव में ही पूरी होती है । जभी तो आत्मसमर्पण की वह आख़िरी मंजिल समझी गई है । चीर-हरण का रहस्य भी डूबकर समझने की चीज़ है । जब तक हम तमाम परदा हटा नहीं पाते, तब तक उसे पाते नहीं । वह भी मिले और बीच का घूँघट भी रहे, तो वह मिला कहाँ ? वह भी मिले और हमारी लाज भी रहे, तो दरम्यान एक दीवार रह ही गई । उसके सामने बेपर्द होना ही हमारी चरम साधना है । उनका कहना था कि कवियों ने इसी मधुर भाव की रतिमाधुरी को गाया है । हाँ, 'जाकी रही भावना जैसी, हरि मूरत देखी तिन तैसी ।'

मगर देवी बाबा और शरच्चंद्र की आपत्ति थी कि भक्ति की यह रति-भावना तो कवियों की कविता में उत्संग विलास का स्फुरण बनकर आई है । प्रेम की वह उपलब्धि तो कुछ इंद्रियों के स्थूल लोक में नहीं होती । वह लीला-माधुरी तो सूक्ष्म की अंतर्वृत्ति है । हमारे कवियों की कला मीरा की तरह लाज छोड़ प्रेम के प्रांगण में नूपुर बाँध नाचती

तो उस दरबार में जगह पाती, जिसकी ख़िलअत सर पर बाँध वह समय की छाती पर बैठ जाती। उनकी चीजें मारफ़ती रहतीं, तो उनमें प्रेम की कसक रहती—काम की चाट नहीं। गोपियों के तन और मन को उलट-पुलटकर कवियों ने अपनी कल्पना की क़लम तो दौड़ाई है, पर हम पूछते हैं कि गोपियों को हमारी तरह कोई तन या मन भी था? जिन अंगों की लोल लहरियों का वे ख़ाका उतारकर धर गए, उन अंगों की सुधि कभी उनको भी थी? उनको भी यदि देह-बुद्धि रहती, तो वह बेखुदी कहाँ से आती? जिस रस से छककर वे अपनी देह और गेह दोनों को भूल गईं, उस रस की अनुभूति कभी कवियों को भी मिली है! काश, उसकी एक बूँद भी उन्हें मयस्सर होती, तो वे अपने हृदय के लहू से लिखते। वाणी की व्यंजना कुछ और होती—मन की कल्पना कुछ और!

"मगर साहब सभी कवि तो भक्त नहीं हैं—इस पहलू को आप क्यों भूलते हैं? उस युग के काव्य की परिपाटी ही कुछ और थी। शृंगार रस सब रसों का सिरमौर है और शृंगार रस के सर्वस्व हैं श्रीकृष्ण। ब्रज की लीला-माधुरी भक्ति की भित्ति तो है ही—काव्य की संजीवनी भी है। नटनागर के बराबर कहीं कोई नायक उनको कभी मिल पाता और मिल पाती गोपबाला की ऐसी प्रेम की दीवानी नायिका?

प्रेम-काव्य का प्राण तो हृदय का दर्द है और दर्द की अगाध निधि गोपियों का विरह है। वैसी निधि कवियों को कहीं और मिलने को है ?"

देवी बाबा ने कहा कि यही तो दुख है कि इन दरबारी भाटों को कृष्ण के सिवा कोई और रँगीला नहीं मिला ! राधा के सिवा कोई और परकीया नहीं मिली। दाल की मंडी की रंगीनियों के लिए उनको गोकुल की गली ही नज़र आई ! कोई और माशूक़ का कूचा न था ! 'कौने तजी न कुल गली ह्वै मुरली सुर-लीन'—बिहारी की निगाह में श्याम की मुरली की यही महिमा है न ! आख़िर कवियों की निरंकुशता की कोई हद भी है !

और इधर से जवाब पड़ा—"हाँ साहब, नहीं मिला ! कृष्ण के बराबर कोई रँगीला न हुआ, न होगा। रूप और रस के प्यासे मन को कृष्ण से बढ़कर कोई और इष्ट मिल ही नहीं सकता। वह अपरूप रूप कहाँ मिल सकता है—साक्षात् मन्मथ मन्मथः। वह जिस क़दर अनासक्त है, उतना ही लीला-चंचल भी है। यह रूप और अरूप का बे-जोड़ जोड़ कहाँ मिलने को है ? वैसा रसिक-शिरोमणि कभी कहीं पैदा भी हुआ ? राधा और मीरा की तरह कुलकलंकिनी, भगवान करें, घर-घर पैदा हों। प्रह्लाद ने जिस प्रेम में पड़ पिता को छोड़ा, गोपियों ने उसी प्रेम के लिए पति को

छोड़ा, वही कलंक न उनके सर का तिलक है !"

"हाँ, हाँ, यह तो हम सब समझ रहे हैं। मगर क्या कवियों ने कृष्ण और राधा को हमारे परिचित कृष्ण और राधा के रूप में रहने दिया है ? उनकी मनगढ़ंत क़लम से राधा और कृष्ण के चित्र कुछ विचित्र नहीं हो गए ! ब्रज-भाषा के कवियों ने जिस युगल मूर्त्ति को खड़ा कर उस पर मनमाने भावों की भरमार की है, वह कहाँ तक किसी के मन में एक अतींद्रिय प्रेम का स्फुरण पैदा करेगी—आप स्वयं निष्पक्ष होकर विचार कीजिए। हाँ, जिस कवि की वीणा के तार गोपियों की व्यथाओं के सुर में बँधे हैं, उसका स्वर कभी बंद होने को नहीं है। मगर ऐसे हैं कितने ! हमें तो लगता है कि कवियों की क़लम के इशारे ही कुछ और हैं। गोपियों के आत्म-समर्पण का राज़ तो उनके अंतर की निविड़तम अनुभूति पर कभी खुला ही नहीं; कृष्ण को उन्होंने अपनी वासनाओं के रंग में रँग ज़रूर डाला।

'धीर समीरे यमुना तीरे वसति वने वनमाली;
गोपी पीन पयोधर मर्दन चंचल कर युगशाली।'

"भला कहिए तो, यही कृष्ण का ध्यान है न ! और जयदेव एक भक्त कवि थे—कुछ ऐसे-वैसे नहीं ! जभी तो लगता है कि जवानी के जोश में उनकी कलम फिसल गई या

अमीरों की दिमाग़ी ऐयाशी की खुराक जुगाने में उनको अपनी कल्पना के पैर में घुँघरू बाँध उसे दरबार में मुजरे के लिए खड़ा करना पड़ा। हाँ, आश्चर्य तो यह है कि गोकुल का वही छटा नटनागर कितनी कुलीन ललनाओं के आँचल से छेड़खानियाँ कर, उनके सर की गागर को फोड़, एक दिन हठात् कवियों के मानस-पट पर आनंदकंद भगवान बनकर रौशन होता है! आप कहते हैं कि आपके तमाम कवि भक्त नहीं हैं। जवानी में कोई भले ही न हो, बुढ़ापे में लगता है वह भक्ति छाँटने। शायद ब्रज की रंगीनियों से छूटकर जब उनके मन की स्फुरणा ब्रजचंद्र के चरणों पर लोटती है, तो जैसे लगती है उन रंगीनियों के पाश से पनाह माँगने!"

× × ×

आज तो न श्री शरच्चंद्र हैं, न देवी बाबा और न संत कवि की वह टोली। उस युग में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की चर्चा भी न थी, मगर आज मनोविज्ञान का एक मनीषी कहता है कि जवानी की आसक्ति ही बुढ़ापे में भक्ति का रूप ले लेती है। यह भगवत् प्रेम काम ही का दिव्य नाम है। जो वृत्ति जवानी में वासना बनकर चमकी, वह बुढ़ापे के पटल पर उपासना में पलट गई। जो मायल मन राधेश्याम की युगल लीला के सरस रस को कल्पना के पैमाने में भर मस्ती से लीलायित होता रहा, अब इंद्रियों की थकान से

ऊब उसी युगल मूर्त्ति के आधार पर शांति का मैदान ढूँढ़ता है। श्याम रंग में डूबकर जो एक दिन रंगीन बना रहा, वही मन "ज्यों-ज्यों डूबे श्याम रँग त्यों-त्यों उज्ज्वल होय।" आखिर क्यों? मन तो वही है! श्याम रंग भी वही है। फ़र्क इतना ही है कि वह जवान का मन था, यह बूढ़े का मन है। जवानी का ताव सुफ़ैदी में सद्भाव बन गया है। हाँ, रूप का आकर्षण ज्यों का त्यों है। सिर्फ़ बदला है उसका रुख़। पहले वह काम था, आज वह प्रेम है। ज्यों-ज्यों इंद्रियाँ शिथिल होती रहीं, मन की वृत्ति स्थूल की चपकलिश से धीरे-धीरे छूटती हुई सूक्ष्म होती गई। जो वृत्ति शुरू से रति भाव में रमती चली आई, उसे बुढ़ापे में भी तो कोई आधार चाहिए। वह आधार यह मधुर भाव है।

भगवान जाने, यह छान-बीन कहाँ तक सच है—कहाँ तक अनुमान। हाँ, जब आज उन बीते दिनों के उस विवाद पर बैठता हूँ विचार करने तो लगता है कि उस ज़माने की रसरचना की रविश ही आज से निराली थी। जी की बात ज़बान पर उठ आती रही। उसे एक इशारे से व्यक्त करने लिए किसी युक्ति की कला की तलाश न थी। शायद रस-सृजन के क्षेत्र में नैतिक विचारों की उतनी गुंजाइश भी नहीं। आज हमारी आँखों पर जो ऐनक है, उसके शीशे बिलकुल नए हैं। आज हृदय की हिलोरें कहीं नाज़ुक हैं,

कल्पना की उड़ानें कहीं ऊँची हैं। आज हमारी रुचि और है, हमारे संस्कार और हैं, हमारे आदर्श और हैं। मगर भाई, रुचि तो बदलती है, पर क्या मनोवृत्ति भी बदलती है ? भाव की गति बदलती है, अनुभूति तो बदलती नहीं। लालसा तो आज भी है; बदली है उसकी अभिव्यक्ति। सौंदर्य की अनुभूति तो ज्यों-की-त्यों है। सौंदर्य की नई-नई क्यारियाँ ज़रूर बन रही हैं और बनती रहेंगी—चूँकि, पुरातन की पुनरावृत्ति में कोई मज़ा नहीं है और न हमारी प्रगति है। मन का स्फुरण नित नई दिलचस्पी ढूँढ़ता है। यह मन का पैमाना कभी खाली नहीं होता—हाँ, दौर पर शीराज़ी या सौंफी नहीं तो कुछ और है।

दिन बदलते हैं, दिल नहीं बदलता। रस का लिबास बदलता है, रस की तलाश नहीं बदलती।

× × ×

अब आइए, इस मजलिस की रंगीनियों की एकाध बानगी देखिए। अक्सर तालाब के किनारे यह मजलिस जमती—कभी गान और वाद्य की और कभी काव्य की।

रस और राग के रसिकों का यह सम्मेलन जब बैठता, तो तमाम वायुमंडल रसलीन हो जाता। वह समाँ बँधता कि पृथ्वी के उस टुकड़े पर गोलोक उतर आता। माधुर्य की एक मूर्च्छन आकाश में लीलायित रहती। ध्वनि की छंद-

लहरियों पर रेशा-रेशा लगता डोलने। चिड़िया डाल पर चहकना भूल जाती। पत्तों से कलियाँ मुँह खोल झाँक पड़तीं। हवा भी हौले-हौले फूलों के परिमल ले कवियों और गवैयों के दिमाग़ को आमोदित करने लगती। मुझ जैसे कूढ़मग़ज पर भी इस रस की फाल्गुनी का कुछ असर पड़ गया तो अचरज ही क्या है?

गवैये और बजैये एक-से-एक रहे। वैसे सितारिये और सरोदिये तो मैंने कभी देखे नहीं। नई-नई गतों पर नया गीत उतार देना तो प्रति दिन का आमोद था। सितार की गत पर ऐसे गीत मेरे पिता के कितने हैं।

जब कभी बाहर से कोई गुणी आता, तो अच्छी मुठभेड़ होती। यों तो बजैया है गवैये का ताबेदार। मगर हाँ, हाथ की तैयारी पर नाज़ रहा, तो वह लगता है गले को चुनौती देने। वह अकड़ता है कि वह गवैये के हलक़ में उँगली रखता है। और इधर गवैये का दावा रहता है कि वह साज़िंदा के कलेजे पर बैठ तान लेता है। भला उँगलियों की मश्शाकी कभी गले की बारीकियों को अदा कर पाएगी?

अक्सर सुर और ताल के इन अखाड़ियों का दंगल छिड़ता। जो था वह रणधीर ही था। पैंतरे पर वार करता। बस, एक दूसरे की भूल को टप-से लोक लेता। और छिद्र में उँगली डाल फाड़कर धर देता। नायक और नायिकाओं

की छान-बीन की तरह राग और रागिनियों पर खींच-तान बड़ी सरगर्मी से चलती।

एक दिन की घटना मुझे आज भी याद है। जाने कहाँ के दो नामी गवैये आए थे। दरबार में एक सनसनी-सी थी। हमारे यहाँ के दिगंबर मलिक सितार लेकर मुक़ाबला करने बैठे और ज्यों कसकर मीड़ खींचा कि झन-से तार टूट गया। मेरे पिता ने हँसकर कहा—

भलो भयो नहिं बाज्यो, आज सितार,
विधना ने पत राखी, टूटे तार।

अब काव्य की कुछ न पूछिए। देवी बाबा किसी एक विषय पर फ़ारसी का कोई शेर कहते। उसी भाव का संस्कृत का श्लोक मिश्रजी सुना बैठते। संत कवि चट हिंदी में कहते, और मीर साहब उर्दू में। जब मेरे पिता भी शामिल रहते तो वे बँगला या अंग्रेजी का उसी जोड़-तोड़ का ढूँढ़ निकालते।

अक्सर यही समाँ बँधता। एक ही भाव को नई-नई तर्ज़ से अलग-अलग ज़बान में पेश करना—उन पदों की छान-बीन करना—उनका एक दूसरे से तुलना कर मोल आँकना हमारे यहाँ एक ख़ास दिलचस्पी थी। हिंदी और उर्दू तो बराबर—संस्कृत और फ़ारसी भी अक्सर। रह गई बँगला

और अँग्रेजी। तो यह तो मेरे पिता की रुचि और अवकाश पर निर्भर थी।

मैं तो उस मजलिस का कोई मेंबर था नहीं, मगर बचपन से ही तबीयत की रवानी कुछ ऐसी थी कि भाव और भाषा की दुनिया मुझे बरबस अपनी ओर खींच लेती। उन दिनों किसी ऐसी चर्चा में योग देने के योग्य भी मैं न था, फिर भी गेंद खेलने या पतंग उड़ाने की बजाय इन भाव-भरी रसीली तरंगों की झंकार पर तैरने में ही दिलचस्पी अधिक थी।

आज भी जब उन घड़ियों की याद आती है, तो दिल लगता है उमड़ने। उस रसाल नंदन का वह पुलक-प्लावन अब कहाँ मिलने को है ? उस मधुमय अतीत के चिता-भस्म को कुरेद-कुरेदकर जिस वासंती वेदना की मिठास हृदय में भर आती है, उसकी एक ओर ठंढक है तो दूसरी ओर दाह। मेरे पिता की मृत्यु के बाद भी कुछ दिनों तक, एक हल्के-से पैमाने पर, वह रस का सिलसिला चलता रहा, मगर रो-गाकर चलते-चलते जब वह दिन आया कि अपने पैरों पर चलना कठिन हो गया, तो फिर कब और कैसे, किस रोड़े से ठोकर खा, गिरकर ढेर हो गया—याद नहीं। अब तो वह किसी सुदूर अतीत में उजड़े हुए अंजुमन का एक सपना-सा रह गया है, जिस पर वर्तमान ने नित नई भावना, कल्पना और पीड़ा के जाल लपेट उसे एकबारगी धूमिल

कर रखा है। इधर भी जब-तब दिल की अँगड़ाइयों पर रस की सुराही ढलती तो है, मगर कहाँ वह अंगूरी का दौर और कहाँ यह दूकानी चुक्कड़! उस दिन की बात उस दिन के साथ गई।

हाँ, तो एक ही भाव अलग-अलग भाषा के वेष में हृदय को जैसे पहलू बदल-बदलकर छूता है। और जिसे भाव के नशे की सच्ची लगन है, उसे यह बहस नहीं कि नशा लाने-वाला यह रस किन मसालों से खिंचकर तैयार हुआ है—देशी या विदेशी! यह बात और है कि जो तलछट होगा, वह तो ज़बान पर आते ही लगेगा खटकने।

किसी दिन 'आँख' पर उर्दू के शेर और हिंदी के पद पढ़े जाते। संस्कृत और फ़ारसी के भी याद आ गए, तो फिर क्या बात! मेरे पिता ने बँगला में 'चोखेर चाउनी' पर कुछ सुना दिया तो और मज़ा आ गया।

यह चितवन की चारुता की चर्चा तो अक्सर चलती। है भी रस की एक अक्षय निधि यह! रूप की आँख है आँख। चितवन की चोट से फूटकर आदमी की छाती में रस आया। कल्पना की तिजोरी और काव्य की जननी है यह। इसी की प्रेरणा पर आदमी के भाव को व्यंजना मिली। इसी के जादू से हमारे शब्द के गर्भ में सुर आया। इसकी चर्चा की कभी कमी होगी?

आँख पर जितने पद पढ़े जाते—क्या हिंदी और उर्दू, बँगला और अंग्रेजी, संस्कृत और फ़ारसी—वह सब आज एकत्र रहते, तो एक दिलचस्प काव्य की प्रदर्शिनी का मज़ा देते !

वैसे तो जब अंत में तमाम सुनी-सुनाई की छानबीन होती, तो बराबर बेजोड़ निकल आता—

"अमी हलाहल मदभरे श्वेत श्याम रतनार,
जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत इक बार ।"

मगर हाँ, मीर साहब सच्चे दिल से कभी सहमत नहीं थे। उनकी अपनी पसंद थी—

"मैंने देखी है किसी शोख़ की मस्ती-भरी आँख ।
मिलती जुलती है छलकते हुए पैमाने से ।"

यों तो—**"आँखों आँखों में ले गए दिल को,**
कानों कानों भी ख़बर न हुई ।"

अक्सर उनकी ज़बान पर खेलती रही। वह हिंदी का दोहा भी एक हद तक रुचता रहा—

"एक तो नैना मदभरे, दूजे अंजन सार ।
ए बौरी, कोउ देति है, मतवारनि हथियार !"

देवी बाबा तो बिहारी के एक दोहा पर मुग्ध थे—

"इन दुखिया अँखियान को, सुख सिरजोई नाहिं ।
देखत बनै न देखते, बिन देखे अकुलाहिं ॥"

इसी भाव पर भारतेंदुजी का जो सवैया है, वह भी उनको बहुत जँचता रहा—

"पहिले बिनु जाने पिछाने बिना
मिलि धाय के आगे बिचारे बिना।
अपने से जुदा ह्वै गई तुरते
निज लाभ औ हानि सम्हारे बिना॥
'हरिचंदजू' दोष सबै इनको
जो कियो सब पूछे हमारे बिना।
बरिआई लखो उलटो इनकी
अब रोवहिं आप निहारे बिना॥"

मतिराम का वह दोहा भी वे अक्सर गुनगुनाया करते—

"बिनु देखैं दुख के चलैं, देखैं सुख के जाहिं।
कहो लाल! इन दृगन के, अँसुआ क्यों ठहराहिं॥"

आज देखता हूँ, सब के पसंद की साइकॉलॉजी अलग-अलग है। मीर साहब मस्ती के दीवाने थे। उनको आँखों के मद की मस्ती पसंद आई। देवी बाबा ख़ुद एक दुखिया थे; फिर दुखिया अँखियान पर वे क्यों न जाते? आख़िर आदमी अपनी ही आँख से तो आँख को भी देखता है!

यों तो आँख पर मुझे और भी कितने पद भूले-भटके याद रह गए हैं, मगर मैं तो लिखने बैठा हूँ देवी बाबा की चर्चा; कुछ आँख की चर्चा नहीं। हाँ, एक बँगला का

पद लगा था उनका दिल टटोलने। उसे लिखे देता हूँ—

"चोखे यदि लागे भालो केनो चाइबो ना
आँखि आमाय दियेछेन बिधि
देखिबो बोले निरवधि
नयन भरे देखिबो तारे केनो पाइबो ना।" †

मलयानिल या नसीमेबहार पर जब चर्चा चली, तो देवी बाबा—'बादे सबा च बुगज़री बरसरे कूए आँ परी' लेकर उठे। मिश्रजी भी 'आयाहि रे मलयमारुत मंद मंदं, आंदोलयन् कनक चंपक काननानि' कह गए। फिर बँगला का इसी जोड़ का पद आया—

'कैनो दखिन हवा गोपन कथा शोनाय काने काने।'

यों ही हिंदी और उर्दू से भी कुछ उसी मज़मून पर पढ़े गए।

कुछ इसी भाव पर मेरे पिता बँगला का एक और गीत कहते, जो देवी बाबा को बहुत प्रिय था। वे अक्सर उसे आप ही आप बड़े चाव से गाते। वह यों है—

---

† यदि वह आँखों को सुंदर लगता है, तो मैं उसे क्यों न देखूँ? विधि ने मुझे आँखें दी हैं लगातार देखने ही के लिए; और जब मैं उसे आँख-भर देख पाऊँगा, तो यह कैसे होगा कि वह मिले नहीं?

"फूले फूले ढले ढले बहे किवा मृदु वाय
तटिनी हिल्लोले तूले कल्लोले चलिये नाय
पिक किंवा कुंजे कुंजे कुहू कुहू कुहू गाय
ना जानि किसेर लागि प्राण करे हाय हाय"

आज तो कहीं का कोई पद या किसी पद की कोई एक पंक्ति स्मृति-पटल पर धुँधली-सी खिन्ची रह गई है और रह-रहकर जी मचल उठता है कि किसी कॉपी पर टाँककर रख क्यों नहीं लिया !

मुझे याद है, एक दिन 'स्वकीया' पर बड़ी सरगर्मी से बहस छिड़ी थी। प्रेम और त्याग की सच्ची तसवीर हो ! देवी बाबा के हाथ फ़ैसला था।

'इंदु' कवि ने मुबारक का वह पद पढ़ा—

"घनश्याम सुखी रहो आनँद से
तुम नीके रहो उनहीं के रहो।" ❀

❀ पूरा पद यों है—

'हमको तुम एक अनेक तुम्हें
उनही के विवेक बनाये रहो।
इत आस तिहारी तिहारी उतै
वे बिचारी को नेह कबै निबहो।
मन भावे मुबारक सोइ करो
अनुराग लता जनि बोइ दहो।

संत कवि ने मेरे पिता का एक सवैया पेश किया—

'सुख है तो हमें तुम्हरे सुख में,
सुख पाओ जहाँ तहँ छाये रहो !' ❀

मलिकजी ने वह गीत गाया—'हमरो सेंदुरवा से काज !' इसी भाव पर और भी कई एक पढ़े गए—सवैया और कवित्त। एकाध तो याद है, बाक़ी याद नहीं। मेरे पिता ने बँगला का एक पद कहा। वह शायद यों है—

"पराने ना जागे यदि आकुल पियासा
शुधू चोखे देखा दिते एसो ना

❀ पूरा पद यों है—

'नहीं चाहति मेरे हिया में हिया
मनमोहन प्यारे लगाये रहो।
नहीं चाहति ह ैं मैं हमारे लिये
मन में जो बसे बिसराये रहो।
नहीं चाहति नेह करौ जिनते
तिनको छिनहूँ बिरमाये रहो।
सुख है तो हमें तुम्हरे सुख में
सुख पाओ जहाँ तहँ छाये रहो।'
घनश्याम सुखी रहो आनँद से
तुम नीके रहो उनहीं के रहो।'

भालोवेशे यदि दुख पाओ सखा
पाये धरि भालोवेशो ना ।
याहा चाओ सखा दिबो फिराइया
स्मृति टूकू शुधू चेयो ना ।" *

उर्दू में तो 'स्वकीया' की गुंजाइश ही नहीं है। माशूक के साथ वफ़ा कैसी ? फिर भी मीर साहब ने कुछ अंडबंड कहा ही। एक तो मुझे याद है—

"किसी सूरत से दिल को शाद करना—
हमको दुश्मन भी समझकर याद करना।"

मेरे पिता ने अंग्रेजी का एक पद भी सुनाया। मेरी स्मृति अगर मुझसे छलना नहीं करती तो वह यों है—

When other lips and other hearts
Their tales of love shall tell,
In language whose excess imparts
The power they feel so well ;

---

* तुम्हारे प्राणों में यदि मेरे लिए कोई प्यास—कोई दर्द—नहीं है, तो सिर्फ़ दर्शन देने के ख्याल से मत आओ। प्यार करने में यदि तुम्हें ज़रा भी दुःख है तो, पैर पड़ती हूँ, यह प्रेम की विडंबना रहने दो। और जो कुछ चाहो, मैं तुम्हें खुशी से अभी वापस कर दूँ; सिर्फ़ अपनी याद मुझसे न माँगो; उसे मैं न दे सकूँगी।

There may perhaps in such a scene
Some recollections be,
Of days that have as happy been—
And you shall remember me. *

दरबारियों का जत्था यह समझता रहा कि संत कवि ने हमारे पिता की रचना जो पढ़ी है—और है भी वह काफ़ी अच्छी—उसी के सर सेहरा होगा। मगर देवी बाबा और ख़ुशामद? वे बिलकुल निष्पक्ष रहे और अंत में बँगला के उस पद को सभी पदों में मार्मिक ठहराया।

देवी बाबा पर कटाक्ष फिर भी रहा—अपनी ज़ीट में सरकार की रचना को तो नहीं चुना, मगर हाँ, सरकार के चुनाव ही को चुना। ज़ीट भी रही—बारीक ख़ुशामद भी रही।

एक दिन की और सुनिए। तुलनात्मक चर्चा छिड़ी थी। देवी बाबा ने ग़रीबी के चित्र पर एक पद पढ़ा—

---

* जब दूसरों के होंठ और दूसरों के हृदय तुम्हें प्यार की बातें सुनाएंगे, और वह भी कुछ ऐसी आवेशमयी वाणी में जो उनके दिल की लगी की गहराई से उठती हो, तो फिर संभव है कि ऐसी परिस्थिति में तुम्हें याद हो जायँ अतीत के ऐसे ही सुख के दिन, जो मेरे साथ बीते हैं, और मैं तुम्हें याद आ जाऊँ।

"जाने पेदर तू सफ़रए वेनां न दीदई
शोरे अयाल गिरियए तिफ़लां न दीदई
न निशस्तई बगोशए अज़ बीम क़र्ज़ख़ाह
दर मुफ़लिसी दर आमदे मेहमां न दीदई । *

किसी का बेटा कहीं पर पढ़ने गया है। वहाँ वह आवारे का जीवन बसर कर रहा है। पिता बेचारे कर्ज़ ले-लेकर खर्च भेजते तंग आ गए हैं। आख़िर जब नाक में दम आ गया तो बेटे को अपनी ग़रीबी का हाल लिख भेजा। वही ग़रीबी का चित्र है यह।

बेटे ने जवाब दिया वह और भी मज़ेदार है। इस जवाब से हमारी इस चर्चा से तो कोई सरोकार नहीं, फिर भी, चूँकि बात आ गई है, मैं लिखे देता हूँ—

'अब्बा मगर तू ज़ुल्फ़ परीशां न दीदई
ख़ाबे सियह बरूए दुरख़्शां न दीदई

---

* बेटा! तुमने वह दस्तरख़ान नहीं देखा, जिस पर रोटी का कोई टुकड़ा नहीं और इधर बच्चे भूख की शिद्दत से शोर मचा रहे हैं। तुम्हें महाजन के तक़ाजे के डर से घर के कोने में छिपकर बैठने की नौबत नहीं आई है और न तुमने वह संकट देखा है कि घर में भूँजी भाँग नहीं और दरवाज़े पर मेहमान आ गए।

न निशस्तई बगोशे दरे इंतज़ार यार
नागाह ज़द्दर दरामदे जाना न दीदई । *

हाँ, तो देवी बाबा का यह तवक्का था कि ग़रीबी का यह भाव इस मार्मिक तौर पर किसी और भाषा में शायद ही मिले। गणपति मिश्र मौजूद थे। वे कब इसे पी पाते! चट प्रतिवाद किया और संस्कृत के दो पद सुनाए—

"रात्रौ जानुर्दिवा भानुः कृशानुः संध्ययोर्द्वयोः
एवं शीतं मया नीतं जानुभानुकृशानुभिः।" †

यह भी अपने ढंग पर बेजोड़ निकला।

फिर—

---

* बाबा! मगर तुमने मुख पर छिटके हुए ज़ुल्फ़ को नहीं देखा है और न दमकते हुए चेहरे पर काले तिल को। तुम्हें माशूक की इंतज़ार में किसी कोने में छिपकर बैठने की नौबत नहीं आई है और न तुमने वह खुशी देखी है कि तुम्हारी प्रेयसी बे-बुलाए अचानक तुम्हारे दरवाजे पर आ गई।

† रात में घुटनों के बीच सिर रख के, दिन में सूर्य की धूप में बैठकर और सुबह-शाम आग तापकर मैं जाड़े का शीत सहता आया हूँ।

"उत्थाय हृदि लीयंते दरिद्राणां मनोरथाः
बालवैधव्यदग्धानां कुलस्त्रीणां कुचाविव।" +

यह पद भी बड़ा ज़ोरदार पड़ा। गर्चे यह ग़रीबी की कोई तसवीर खड़ा नहीं करता, फिर भी मार्मिक तो ऐसा है कि भई वाह! हृदय पर टूटकर आता है।

संत कवि ने एक दूसरा पद पेश किया—

"मद्गेहे मशकीव मूषकवधूर्मूषीव मार्जारिका,
मार्जारीवशुनी शुनीव गृहणी वाच्यं किमन्यन्नृप!
प्रासापन्नशिशून्सून् विजहतः संवीचय झिल्लीरवै—
लूतातंतुवितानसंवृतमुखी चुल्ली चिरं रोदिति।" ×

+ दरिद्रों के मनोरथ हृदय से उठकर थर्राकर बैठ जाते हैं —कुछ उसी तरह जैसे बाल-विधवा कुल-ललनाओं की छाती उभरकर बेकार रह जाती है।

× मेरे घर में अन्न की कमी से चूही मशकी की तरह दुबली हो गई है, बिल्ली चुहिया-सी, कुत्ती बिल्ली-सी और घरनी कुत्ती जैसी हो गई है। राजन्! अधिक क्या कहूँ? कितने दिनों से चुल्ही न जलने की वजह उसमें मकड़ी ने अपना जाल फैलाकर उसका मुँह ढक दिया है और उसमें झींगुर बोल रहे हैं, मानों मुसीबत से परेशान बच्चों को भूखों मरते देख इन झींगुरों की आवाज़ में चुल्ही बहुत रो रही है

एक साहब ने किसी भूखी भिखमंगिन की एक दर्दनाक तसवीर पेश की। वह बेचारी एक टूटे खँडहर से किसी चिड़िये के घोंसले से दो अंडे चुराकर ज्यों बाहर आती है कि वह चिड़िया झपटकर पंजा मार अंडे छीन लेती है और वह टका-सा मुँह लिए खड़ी रह जाती है।

पद तो थे कुछ चुभते-से, मगर इतने पदों की तो कोई बदी न थी। कोई क़िस्सा तो सुनाना न था। किसी ने दाद नहीं दी।

एकाध कवि भी वहाँ मौजूद थे। वे कुछ कह न सके। संभव है, उस मौक़े पर झट कोई पुरदर्द पद सूझ न पड़ा हो। जब देवी बाबा ने उनकी ओर रुख़ किया तो 'इंदु' कवि हँसकर बोले—

"अजी साहब, हमारे यहाँ राम राज्य रहा है। यहाँ ग़रीबी का कोई दर्दनाक चित्र कहाँ मिले?"

"और ग़रीबों के सुख-दुख से आपको दिलचस्पी ही कब रही? आप तो अमीरों की नाक के बाल रहे!"—देवी बाबा ने कह ही डाला।

बात ज़रा सख़्त थी। इसी ज़बान की वजह तो लोग उनसे खिंच जाते।

पाठकजी ने बात का रुख़ बदल देना चाहा। बोले—

"मगर मुंशीजी, आप भी एक ही ठहरे। भला कहाँ

रस की फुहार होती, कहाँ यह रेगिस्तान की लू! हमें इस खंडहर और कंकाल से वास्ता ?"

"आपसे वास्ता न हो, हमारे सामने तो यह बराबर मौजूद है। और साहब, किसी के दर्द की कहानी होती भी है बड़ी मीठी !"

"यह तो अपनी-अपनी रुचि है। आपको खारा आँसू भले ही मीठा लगे, हम तो मीठी मुस्कान के कायल हैं। अच्छा, तो आज यही चर्चा रहे। इस जीवन में सबसे प्यारा—मीठा—क्या लगता है ?"

और बस, एक नया मज़मून छिड़ गया। लगे लोग अपना-अपना ख़्याल कहने। मीर साहब मजलिस के मीर थे। छूटते ही मैदान में उतर आए—

"हमसे पूछते हैं आप—तो हाँ, लीजिए—'गोरे मुँह पर काला तिल,' और उन्होंने सबूत में पेश किया फ़ारसी का एक शेर—

"अगर आँ तुर्क शीराज़ी बदस्तारद दिले मारा।
बख़ालश हिंदुअश बख़्शम् समरकंदो बुख़ारारा ॥" *

फिर चौतरफी बहस छिड़ गई।

---

* अगर वह माशूक़ शीराज़ी मुझसे मुहब्बत करे तो उसके एक तिल पर मैं समरकंद और बुख़ारा जैसे दो मुल्कों को निछावर कर दूँ।

'इंदु' कवि ने कहा—"तिल के खिलाफ़ तो ख़ैर मैं नहीं हूँ—पर हाँ, गोरे मुंह पर कुछ और ही देखना चाहता हूँ।"

"वह और क्या है?"

"अजी, लज्जा की लाली! सुहाग-रात की नव-वधू की लज्जा कितनी मीठी, कैसी प्यारी—"

"मगर अभी आपको तो कोई अनुभव नहीं।" —पाठकजी ने हँसकर कहा।

"बला से! अनुभूति तो है—"

"तो मैं कहता हूँ, जवानी का मनमोदक बड़ा मीठा है। क्यों कविजी? मुलायम गालों पर गुल्लाले तो वह लाता ही है, और भी नए-नए करिश्मे ला खड़ा करता है। मगर यहाँ तो अपने-अपने तजरबे का ज़िक्र है और हम जवानी के मीठे सपने पेश कर रहे हैं—"

दिगंबर मलिक छेड़कर बोले—

"तो सुनिए, आधी रात के तिलक कामोद का सुर!"

मजलिस बौखला उठी—

"बस, आ गए आप सुर में। अजी! बरसाती रिमझिम में कजली की धुन कहते तो हम समझ भी पाते। यह तिलक कामोद क्या बला है—हमारे फरिश्तों को भी ख़बर नहीं!—"

खाँ साहब ने तपाक से कहा—

"अमाँ, मैं तो समझता हूँ कि शराब के नशे का पहला उफान अपना सानी नहीं रखता। ओह! पहले प्याले की वह मीठी गुदगुदी—उस रस की मिठास के आगे···"

मीर साहब ने बीच ही में बात कतर दी—

"बस कीजिए खाँ साहब! सुर से सुरूर पर उतर आए। आप लाल परी पर लट्टू हैं, हमारे पाठकजी सब्ज़ परी पर। यह तो नशेबाज़ों का स्वर्ग ठहरा। हम इसे ख़ाक समझेंगे?"

चौबेजी ने कहा—

"यौवन का प्रथम चुंबन—आप क्यों भूले जा रहे हैं—"

पाठकजी झल्ला उठे—

"अजी साहब, यह चुंबन-आलिंगन तो आप अलग रखें। माफ़ कीजिए, यह तो गँवारों का गुड़ है। आप एकबारगी ज़मीन पर—स्थूल पर उतर आए। और आपका यह प्रथम चुंबन तो बरसों की कटकटाई भूख की पहली लपट है, उसमें मिठास कहाँ? वह तो सरासर उन्माद है—उन्माद! अगर बच्चे के होंठ पर माता का चुंबन कहते तो एक बात भी थी। अब कोई कह बैठे कि लखनऊ की दसहारी का काश या महादेव की दूकान की रबड़ी में केसर का जुज़! हमारे खाँ साहब फ़रमाएँ—खस्सी के मग़ज़ का

कबाब, तो हम हाथ जोड़ अर्ज़ करेंगे कि यह खानेवाले पीनेवाले की बैठक नहीं है। यहाँ तो दिल में जो भाव रखता है वह आए, वरना अपनी ज़बान अपने मुँह में रखे। हमें सूक्ष्म रस की तलाश न हो तो—"

इतने ही में चौबेजी बिगड़ उठे—

"मैं पूछता हूँ, वह गोरे मुंह पर काला तिल क्या था? आख़िर वह किस तराज़ू पर सूक्ष्म उतरा?"

"ख़ैर, उसमें तो एक बाबत भी थी। आपकी तक़रीर में तो नवीनता तक नहीं। यह चूमना-चाटना तो जानवरों में भी आम बात है। हम तो कुछ तह की चीज़ ढूंढ़ रहे हैं—समझे?"

देवी बाबा अब तक चुप थे। एकाएक सामने आकर बोले—

"तो सुनिए, मैं कहे देता हूँ—अज्ञात प्रेम की पहली टीस। आप समझे न—वह दर्दभरी मीठी गुदगुदी। दिल में उठते हुए प्यार का वह अनजान आलम, जब कि पता नहीं चलता कि यह पुलक है या पीड़ा, रस है या विष! कभी बेवजह खुशी, कभी बेवजह उदासी! फिर भी ज़िंदगी की एक अनूठी घड़ी, जिसे हम भूलकर भी भूल नहीं पाते। बस, दिल उस खुशी में टीसता है और उस टीस में हँसता है। हाँ, जब यह गुदगुदी लहू के जोश पर

तूफ़ान बन रग-रग में दौड़ने लगती है तो उसमें बिजली की लपट तो आती है, पर वह माधुरी नहीं मिलती।"

और मजलिस एकबारगी चुप हो गई। देवी बाबा की तक़रीर पर ग़ौर करने लगी। हालाँ कि कविजी माशूक़ की भौं की मीठी भिड़की के पुल बाँधते रहे, पर किसी पर दाल नहीं गली।

देवी बाबा थोड़ी देर बाद बोले—

"हाँ, एक और बड़ी मीठी चीज़ है। वह है किसी समझदार के मुँह से अपनी तारीफ़।"

और महफ़िल, बस, लोटपोट हो गई। सुभान अल्लाह! क्या बात कही आपने! लगे लोग भूमने।

देवी बाबा इस शहद के फव्वारे में शराबोर ज़रा ऊबते हुए बोले—

"मगर हाँ साहब, यह मिठास ख़तरे से ख़ाली भी नहीं।"

"वह क्या?"—लोगों ने पुकारकर पूछा।

"जो हमारे कलाम पर दाद देता है, उसे तो हम समझदार मानते हैं और जो दाद दे नहीं पाता, वह हमें समझदार ही नहीं जँचता। और बस, हम लगते हैं ख़ुशामद की मिठास चाटने। एक हद तक तो कोई मुज़ायका नहीं। मगर यहाँ तो एक घूँट की बजाय बोतल की प्यास उपट आती है। मीठा खाते-खाते आदमी का लहू लगता है

पानी होकर निकलने और मीठा सुनते-सुनते आँख का पानी तक ढल जाता है।"

रात हो आई। हवा की हिलोरों में खुनकियाँ भर गईं। चाँद की मीठी चारुता लगी सीरी होने। शमादान की बत्ती की लौ टहटही चाँदनी में पीली पड़ गई। सरकारी ड्योढ़ी पर नौ का गजरा गूँजता हुआ बोला। सुहाग से भरी रात-रानी की मस्तानी अँगड़ाइयों से मधु की भीनी-भीनी फुहारें लगीं उड़ने और देवी बाबा लाठी टेक उठते हुए बोले—

"यह सब तो, ख़ैर, है ही, मगर अपना कुछ गँवाकर किसी दुखिया की चुपचाप दर्दशरीकी में जो मधुरता है, उसकी तुलना तो फिर क्या कहूँ, कहीं कुछ पाता ही नहीं!"

"क्यों? भगवद्भक्ति की रति-माधुरी?" इंदु कवि ने ज़रा टनक की आवाज़ में कहा।

"होगी, लेकिन वह पत्थर में न हो, आदमी में हो।"

अब चलिए, आपको देवीलाल की बदनामियों के कुछ और नमूने दिखाएँ। वैसे नास्तिक तो आप देख ही चुके हैं—बने हों या बनाए गए हों। उनके जीवन पर जो आघात आए, उसका प्रत्याघात हो या उनके अंतर की प्रेरणा ही ज़माने से निराली हो। जो कुछ भी हो, उस युग में पुरानी लकीर के एक गाँव के अंदर नास्तिक का नाम पाना कोई मामूली अज़ाब नहीं था। हरामखोर तो हलाल के खानेवाले उनको कह ही देते रहे, उनकी किस्मत ही ने यह तौक़ उनके गले में डाल रखा था। जो जले-कटे थे, उनकी जलती ज़बान की बौछार तो इस लेखनी से अदा होने को नहीं। बड़े लोगों की दाल की मक्खी तो उनके स्वाभाव ही ने उनको बना रखा था। एक भिन्नाहट रह-रहकर सुफ़ेदपोशों में तूफान बाँधती रही! बस, बाकी

था एक लंपट का नाम पाना। वह भी खुदा के करम से एक दिन उनको मिल ही गया !

वह जो किसी ने कहा है न कि बदनसीब अगर सोना भी छूता है तो वह बदलकर मिट्टी बन जाता है, वही करामात कुछ उनके हाथ में थी। जब-जब बेचारे फूल बोने चले, काँटे उगाकर धर दिए।

कह नहीं सकता, उस साल होली में हमारे यहाँ कहाँ से एक नई गानेवाली आई थी। आई थी तो गाने, डाल गई टोने। जवानों की समझ की बाँध को एक चुलबुल हुस्न और अदा की मौज किस आसानी से कुरेदकर धर देता है—यह अनुभव मेरा वह पहला था। बस, मनचलों की दुनिया उलट पड़ी। आँखवालों की आँखें खुली की खुली रह गईं। उसको देखने से कहीं ज़्यादा उसके देखनेवालों को देखने में लुत्फ़ था। उसके चेहरे पर जोबन बरस रहा था, तो उनके चेहरे पर हसरत। उधर मुस्कान थी, इधर तूफ़ान। ज़रा-सी तिरछी नज़र—ज़रा-सी एक मीठे गले की लोच, एक पल में लालसाओं का वह तांडव खड़ा कर दे सकती है—यह क़यामत नहीं तो क्या है ? जिसे अपने दिल पर नाज़ था, वह भी उस नाज़ का शहीद हो गया।

थी भी वह लावण्य और लीला की एक लहर।

कुदरत ने उसकी निगाह में बिजलियाँ कूट-कूटकर भर दी थीं। एक भी जिधर कौंधकर गिरती, उधर लौ लगाकर धर देती।

कंचनी तो ख़ैर वह थी ही और सोने पर सुहागा—गले में वह लोच, वह मींड़, कि भई वाह! मगर हाँ, जो मोहिनी उस मजलिस के सर पर चढ़कर बोल उठी, वह थी उसकी सुलझी हुई ज़बान की रवानी—उसकी तमीज़ और तर्ज़।

वह गोधूलि मुझे आज भी नहीं भूलती। शाम ही से महफ़िल गर्म थी। उसने गले में दिल डाल एक ग़ज़ल जो छेड़ी तो लोग जामे से बाहर झूम गए।

"दिल लीजिए मगर मेरे अरमाँ निकालकर"

मीर साहब ने देवी बाबा की कोहनी को खोदकर कहा—"हाँ, मुंशीजी, फ़रमाइए तो कुछ इस पर। आप भी कलाम का दावा रखते हैं।"

देवी बावा ने मीर साहब की ओर गर्दन फेरी और बोले—

ज़ख़्मे जिगर को देखिए पैकाँ निकालकर—"

'अजी वाह!' की गूंज में मीर साहब तो झेंप-से गए। मगर जैसे कुछ सुना ही न हो—चट गानेवाली की ओर मुड़ गए और हँसकर बोले—

"अच्छा! तो तुम दिल भी रखती हो—यह अचरज!"

खाँ साहब पास ही बैठे थे। बोल उठे—

"भला, मीर साहब! इनके भी कहीं दिल होते हैं?"

"यह लो, इनके दिल का पता तो अपनी जेब की खनक से पूछो। इनके दिल की कुंजी मर्दों की जेब में रहती है, समझे!"

गानेवाली लाल हो गई। ज़रा भौं तरेरकर बोली—

"अपने मुँह मियाँ मिट्ठू? यही तो आपकी भूल है कि वह दिल नहीं ढूंढ़ती, ज़र ढूंढ़ती है। जभी तो आप पाते भी हैं उसकी देह—दिल नहीं पाते।"

"अजी, उसे दिल है भी जो कोई ढूंढ़े? तवायफ़ और वफ़ादार!"

"आप यह भूल जाते हैं कि वेश्या के भीतर भी नारी बैठी है। आप नारी को तो ढूँढ़ने आते नहीं, आते हैं वेश्या को ढूँढ़ने, तो वह मिले कैसे? यह हाव-भाव का बाज़ार तो उसकी दूकान है, उसका घर नहीं। दूकान पर तो दूकान की ही मिलेगी न? उसके घर आते, जब तो नारी को पाते। मगर वहाँ तो दिल लेकर आना होगा—ज़र नहीं। और वह आपके पास है कहाँ?"

"यह क्यों? तुम्हारे यहाँ तो कोई उसे लेकर जाता नहीं, तुम्हें पता कैसे हो?"

"मुझ में नारी अभी जीती है, मरी नहीं। इतनी

समझ अभी है कि प्रेम का प्याला क्या है—आँख का नशा क्या है ? प्रेम आपकी ज़बान पर ख़ूब है—आप उस पर किताबें लिख दें—तमाशा खड़ा कर दें—मगर आप उसे कर नहीं पाते। वह तो अपने को उजाड़कर धर देना है। और माफ़ कीजिए, वह आपके ख़मीर ही में नहीं। जैसे आपकी निगाह में वेश्या और वफ़ा एक साथ नहीं चलतीं, वैसे हम भी समझती हैं कि पुरुष और प्रेम दोनों दामन-चोली नहीं होते !"

"वाह, बाईजान ! बात तो तुमने पते की कही !"

"सरकार ! औरत के दिल में जब प्यार उठता है तो वह कलेजा फाड़कर उमड़ता है। उसके सामने सिर्फ़ मरने-जीने का मसला रह जाता है और मर्द के दिल में प्यार का उठना एक क्षणिक आवेश—लहू का एक चलबला है—बस ! वह उठा—आग-सा दमका—इर्द-गिर्द हाथ मारा—और मिट गया ! माफ़ी चाहती हूँ, मैं इस प्यार को प्रेम का दर्जा नहीं दे पाती। बस, जवानी का एक उफ़ान है यह—और कुछ नहीं।"

मैंने कहा—"देवी बाबा ! इन जलती बातों की तह में कोई ठेस होगी। यों तो—"

"हाँ बाबू ! पहेली है वह ! बाहर तो है रंडी, भीतर लगती है नारी ! हाव तो ज़रूर है, पर वह दिल भी रखती

है और शायद थोड़ा-सा दिमाग़ भी है।"

मजलिस का रंग जमा नहीं। मीर साहब पर लोग बेतरह बरस पड़े। उनको यह बे-वक्त की शहनाई क्या सूझी थी! किसी और वक्त ये मसले हल नहीं होते? तमाम मज़ा किरकिरा कर दिया।

होली के दो दिन बाद सुना कि देवी बाबा उसे लेकर कहीं नौ-दो-ग्यारह हो गए। उसकी मौसी रोती-कलपती फ़रियाद करने शहर गई।

बड़ी किरकिरी हुई। मीर साहब ने ज़ोर देकर कहा कि मुझे तो शुरू ही से खटक रहा था कि एक दिन देवीलाल अपना मुँह काला कर किसी रंडी के तबलची होकर ही रहेंगे।

ख़ाँ साहब ने आँखें नचाकर कहा—"वल्लाह! तबलची? यह तो आपने इज़्ज़त की जगह दे दी। अजी साहब, देख लीजिएगा, रंडी का पीकदान उठाएँगे—पीकदान!"

मगर जब शाम होते-होते देवी बाबा इक्के पर सवार स्टेशन से लौट आए, तो यह रहस्य और भी संगीन हो उठा। किसी ने कहा—कहीं रख आए। किसी ने समझा—कहीं खपा आए। किसी ने सुना—लौटा आए। मगर सच का पता किसी को था नहीं। और देवी बाबा हसबदस्तूर किसी पर खुले नहीं। गुम-सुम बैठे रहे।

इस मौन ने जलन के मुँह में ज़बान रख दी। लोग जले थे ही—लगे जाल बुनने। नए-नए क़िस्से उड़ने लगे—रात वह आई थी और जाने किधर से रात रहते लौट गई। यह अनहोनी भी कहां आँखों की देखी और कानों की सुनी कही गई।

पेट में पानी पचा नहीं। दूसरे दिन मैं पूछ ही बैठा। वे एक गहरे सोच में पड़ बोले—

"भाई, मुझसे उसकी तड़प देखी न गई!"

"मगर देवी बाबा! आपको उसने कुछ कहा भी था क्या?"

"अरे भाई! ज़बान उस बात को क्या अदा करेगी, जिसे एक गीली-सी निगाह दो पल में कर जाती है? समझो, उसे आज तक मर्द तो मिले नहीं, जानवर-ही-जानवर मिले हैं!"

"तो आप उसे मर्द की पहचान कराने ले गए थे!"

"उसे आदमी की दुनिया दिखाने कहो! मैंने भी कहा कि जाओ, तुम भी क्या याद करोगी कि कोई चाहनेवाला था तुम्हारा। मुजरे के बाद परसों मैंने उसे अपने घर बुला भेजा। मुझे रात की फ़ीस देनी पड़ी, वरना वह क्यों आने लगी? हसबदस्तूर वह बन-ठनकर आई। मेरी कोठरी में पलँग तो लगी न थी। अँधेरा था। ताक़ पर, बस, एक दिया

टिमटिमाता रहा। वह ज़रा चौंकी। माजरा क्या है? मैंने कहा—'मैंने तुम्हें गले लगाने को नहीं बुलाया—तुम्हारा गला छुड़ाने के लिए बुलाया है।' वह और भी चौंकी। मैंने और दिलासा दिया—'मुझसे दिल चुराकर क्या करोगी? मैं जानता हूँ, तुम्हारी आँखों में जादू तो ज़रूर है, मगर उन आँखों में आँसू भी काफ़ी है।' और वह एकबारगी टूट पड़ी। लगी रोने। क्या बतलाऊँ, जिन आँखों की एक आधी नज़र के लिए जवानों में नज़रों से नज़रें छिलती रहीं, उन आँखों में आँसू की धार को देखते..."

"मगर देवी बाबा! उस आँसू की धार पर किसी की अक़्ल बह गई हो तो?"

"सुनो जी, अक़्ल के बहने का डर नहीं होता, डर होता है उस पर पत्थर पड़ने का और फिर मुस्कान पर जब नहीं गई, तो उस तूफ़ान पर क्या जाती......तो वह काली-सी चुड़ैल जो उसके साथ रही—जिसे वह मौसी कहती है—वह आदमी नहीं, भेड़िया थी, भेड़िया। मौसी कैसी! उसे तो माँ-बाप की याद तक नहीं। उसी चुड़ैल ने कहीं मेले-ठेले में उसे पा लिया। पाल-पोसकर जवान किया। देखा, छोकरी को भगवान का दिया रूप है!

"बस, उसे रोज़गार के लिए लैस किया। गाने-बजाने की तालीम दी। ज़हीन तो थी ही, हाव-भाव के लटके भी

सिखाए। जादू डालने का सबक़ पढ़ाया। और उसे बाज़ार में लाकर खड़ा कर दिया। साड़ी बाँधने भी न आया था कि पेशवाज़ बाँधना पड़ा। बचपन की नादानियाँ छूटी भी न थीं कि पलँग की ताबेदारी में कान थाम जोत दी गई। और फिर तो तुम समझो कि पेशे की ओखली में उसका सर ठेल ऊपर से धमाधम मूसलों का ऊधम जारी रखा। हाँ, उसे बराबर अपनी नज़रों के तले नज़रबंद भी रखा। हजारों के जेवर चंद घंटों के लिए उसके बदन पर चढ़ाए जायँ और सुबह होते उतार लिए जायँ। पास में एक कानी चित्ती नहीं। उसकी न कभी अपनी मर्ज़ी थी, न अपनी ख्वाहिश। एक दिन क्या, आधी घड़ी भी उसकी अपनी नहीं थी।

"दिनभर फटेहाल गलाफाड़ रेयाज़ करती और शाम को सज-धजकर चेहरे पर हँसी सवाँर दूकान खोलती और रात-भर हलवाई की दूकान की रसभरी इमरती की तरह मर्दों की भूख मिटाने में हाथोंहाथ बिकती। उस बिक्री के पैसे से उसको कभी कोई सरोकार नहीं रहा। उसके लिए तो आठों पहर देना ही देना रहा। दिल खोलकर गाया नहीं, तो मरम्मत! रिझाया नहीं, तो आफ़त। मुजरे से इनाम न लाई तो रात का खाना बंद। यार की जेब नहीं कतर पाई, तो यह फ़बती कि दिल लगा रही है! और जो कुछ लाई, उसे कौड़ी-कौड़ी मौसी की हथेलियों पर गिन देना पड़ा।

"मगर इस खटन से कहीं भयंकर तो छाती की जलन थी। दिल जल रहा है, मगर होठों पर मुस्कान और नज़रों में कमान बराबर लैस है। इधर मर्दों की सूरत से नफ़रत, उधर हँस-हँसकर उनको गले लिपटाना! शराबी के गीले होठों को कसकर चूमना! मौसी को तो अपने हलुए-माँड़े से काम था, वह मरे या जिए!

"आखिर वह आदमी है, मशीन नहीं। उसे दिल है और दिल में दर्द भी है। बस, छाती फट गई। लगी नकेल तोड़ निकल भागने का रास्ता ढूँढ़ने और रास्ते में क़िस्मत लगी रोड़े अटकाने। एक दफ़े पल्ला छुड़ाकर निकल भागने की राह पर आई भी तो पकड़ ली गई और मौसी ने छठी का दूध याद कराकर छोड़ा।

"एक लौंडे पर वह खुल भी पड़ी। दिल के फफोले दिखाए। मगर वह तो उसका दिल ढूँढ़ने नहीं आया था, आया था उसकी जवानी की मिठास चूसने। रस तो लिया ही, मगर मौसी को फ़ीस की जगह बेचारी के दिल का राज़ दे गया। वह शैतान तो ग़ुस्से में खाल उधेड़वा लेती, अगर उस खाल की बिक्री से रोज़मर्रा माल की आमद न होती। उसने शरीर को तो ज्यों-का-त्यों रहने दिया, उसके कलेजे को मसलकर तोड़ डाला। वह एकबारगी टूट गई। मुझसे कह तो दिया उसने, मगर

कहकर थर-थर काँपने लगी। मौसी का कुछ ऐसा रोब ग़ालिब था कि उसकी आँखों में उँगलियाँ डालकर दिखाने पर भी वह देख नहीं पाती थी कि वह आज़ाद है। डर छूटता, तो गला छूटता। सब समझकर भी बेसमझ-सी बनी थी।"

"आख़िर आपने उसे खपाया कहाँ? मौसी तो उसे चैन नहीं लेने देगी!"

"ऐसा? नहीं-नहीं, वह जानती है कि चिड़िया उड़ गई। अब जाल में आने की नहीं। और मैंने एक शरीफ़ का पल्ला धरा दिया है! कोई डर नहीं।...इससे फ़ाज़िल जानकर तुम करोगे क्या?"

"लोग तो बहुत कुछ कह रहे हैं?"—मैंने दबी ज़बान से छेड़ा।

"कहने दो! ज़बान को कब किसने पकड़ा है! आख़िर, भला कहनेवालों से बुरा कहनेवाले हमारी कुछ नेकी ही करते हैं। जो हमारी नादानियों को ढूंढ़-ढूंढ़कर दुनिया के सामने ला रखता है, वह हमें भी तो उसे देख सचेत होने में मदद देता है! भला कहनेवाले तो हमें इतमीनान दे-देकर सुला देते हैं और बुरा कहनेवाले ठोकरें दे-देकर जगा रखते हैं। आज मेरे पीछे ऐब ढूंढ़ने-वालों का यह क़ाफ़िला न रहता, तो कौन कहे, कहीं मीठा

कहनेवालों की बात में आ मैं रास्ते से भटक न पड़ता। यही तो शायद मेरी इस जिंदगी में एक ख़ुशनसीबी है।"

"मगर आपने एक शरीफ़ के सर पर रंडी जो बैठा दी!"

"रंडी! नहीं-नहीं, वह कोई ऐसी-वैसी नहीं। क्या तुमने देखा नहीं था? उसकी तमाम अदाएँ पेशे की थीं—कुछ अपनी नहीं। एक भी अदा कुदरती होती, तो ज़रा डरने की बात होती!"

"मैंने तो ख़ास कुछ देखा नहीं, देवी बाबा!"

"तो देखते थे तुम उसका तमाशा!"

"जो कहिए!·······और तमाशा तो उसने औरों को बना रखा था। हम उसी तमाशे में ग़र्क़ थे।"

"तो ख़ैर, हमने तो उसे ग़ौर से देखा और देखा कि उसका चेहरा कुछ वैसा ही हँस रहा है, जैसा कि अक्सर हम हँसा करते हैं।·······समझे भैया, घायल ही न घायल को पहचान पाता है! हम अपनी छाती में हाथ डाल पड़ोसी के दिल के दर्द का पता पाते हैं। हम पर बीती न होती, तो हम उसकी पीड़ा को कभी भाँप पाते? तुम नहीं जानते बाबू, कि जवानी में जिंदगी का भार होना क्या बला है। जब क़िस्मत की तीलियों पर सर पीट-पीटकर ज़िंदगी के तमाम हौसले घुटकर रह जाते हैं, तो फिर

नाउम्मीदी की आँधी में गिरफ्तार आदमी न जी पाता है, न मर पाता है—लगता है रेंगने।"

और देवी बाबा की आँखें गीली हो आईं। सुना रहे थे उसकी बात, उतर आए अपनी बात पर। उनके हृदय के टूटे तारों पर इस करुण मूर्च्छना के सिवा और कोई स्पंदन तो था नहीं; जब कहीं से किसी ने उँगली उन पर रख दी—बस, वही भीगा सुर निकल पड़ा।

एक छन के बाद फिर एक लंबी साँस लेकर बोले—

"यह सपनों के मधुवन का उजड़ना जीते-जी दफ़न होना है। जवानी का एक सपना चूर होता है तो लगता है दिल ऐंठने। जिसके तमाम नक्शे गिरकर ढेर हो गए, उसके दिल की कैफ़ियत तो उसका दिल ही जानता है। यह आशा ही एक ऐसी बेहया वृत्ति है, जो सैकड़ों बार तार-तार होकर भी टूट नहीं जाती। मगर भाई! मेरे साथ—

'इधर तो पहलू में दिल नहीं है,
उधर जो देखा जिगर नहीं है।
एक आह सीने में रह गई है,
गो उसमें भी कुछ असर नहीं है।'

तुम्हीं कहो, इस जीवन की एक भी आस मिटी है या कभी मिटेगी?"

"तो आपके दर्द की कोई भी दवा नहीं?"

"नहीं ! मेरे दर्द का मरहम मेरा अपना ही दर्द है।"

"वाह, यह तो अच्छी रही—वही दर्द और वही दवा !"

"हाँ बाबू ! 'दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना।' फिर भी यह कोई दर्द है भाई ! दुनिया के दर्द को लगता हूँ ढूँढ़ने तो अपने दर्द का पहाड़ लगता है गर्द-सा दीखने। देखो न, मज़े में खाता-पीता हूँ—तानकर सोता हूँ और फिर हमारे सामने कितने हैं, जिनके सर पर न छप्पर है, न तन पर बस्तर। एक जून रोटी तक मयस्सर नहीं। यही न कि अकेला हूं, तो........ख़ैर........जाने दो इन बातों को।"

"तो देवी बाबा ! आपका कोई भी अपना नहीं रहा ! मैंने फिर छेड़ा।

"अच्छा है न भाई ! कहीं बँधा नहीं हूँ। अपना नहीं तो कोई पराया भी तो नहीं है। यों तो इस निठुर दुनियाँ में कौन किसका है ? हरएक आप अपने का है। अपना-अपना बोझ, अपना-अपना ढोना।"

"फिर भी अपना तो कोई होना ही चाहिए !"

"चाहिए तो, मगर चाहने से क्या होता है ! सच पूछो तो, अपना तो वही है न, जो हमारी भूल पर भी पीठ ठोंक जी हरा कर देता है—हमारी कमज़ोरियों पर भी दुलार के दान से मुँह नहीं मोड़ता। हमारे गुन पर जो रीझा—हमारे गान पर जो रीझा—वह तो कुछ हमारा नहीं

हुआ — उस गुन या गान का ही हुआ। यह मतलबी दुनिया किसी बेकस की पीठ पर भी कभी हाथ देती है ? भैया, हमारी मुसकान पर फूल बरसानेवाले तो जाने कितने हैं। काश, कोई हमारी आँखों के आँसू से अपना आँसू मिला पाता !"

"देवी बाबा, मैं समझता हूँ कि आप शादी कर घर बसा लेते........"

देवी बाबा हँस पड़े—"यह खूब रही—बेल पका तो काग का क्या !

'हमको मालूम है जन्नत की हक़ीकत लेकिन,
दिल के बहलाने का ग़ालिब यह ख़याल अच्छा है !'

भाई, कौन नहीं चाहता कि हम भी किसी की आँखों की दुनिया—किसी के दिल की तमन्ना—होते ? हम भी किसी नेह के आँचल में अपना आँसू पोंछ पाते ! मगर हाँ, चाह की चोटी थामे समझ भी तो साथ है ! कहाँ अपनी ही जिंदगी भार है और कहाँ बीवी-बच्चों का बोझ ! भला, किस बूते पर—तुम्हारी भीख पर ? भाई, यह समझ रखना कि जब तक तुम्हारा प्यार है, तुम्हारे अन्न से इनकार नहीं। हाँ, जब देखूँगा कि प्यार की जगह दया आ गई, तो फिर जीने की भूख भी मेरी शर्म को नहीं खा सकेगी।"

मैं ने बात का रुख़ बदलना चाहा। छेड़कर पूछा—

"तो आपने इतनी तकलीफ़ क्यों की ? किसी और के ही हाथ उसे भिजवा देते !"

"सो तो होता, मगर बात फूट जाती और सब करा-कराया फिस हो जाता। वह बेचारी जान से भी हाथ धो बैठती! फिर, हमारे जीने के लिए भी तो कुछ चाहिए न? बड़े भाग्य से किसी को कभी यह अवसर मिलता है कि वह अपना कुछ गवाँकर किसी दुखिया की सेवा कर सके। हाँ, उसमें नाम का ख्याल न हो, न एहसान का।"

"मगर देवी बाबा! आप माफ़ी दें तो एक बात दरियाफ़्त करूँ। आपने उसके लिए ऐसी बदनामी उठाई, किसी और के लिए भी यह तकलीफ़—यह बदनामी—गवारा करेंगे आप? उसकी तरह पीड़िता तो जाने कितनी हैं।"

"होंगी, मुझे पता नहीं! मुझे तो ऐसी चोट कभी पहुँची न थी।"

"देवी बाबा, आँखें भी चोट करती हैं, केवल उनके आंसू ही नहीं। और जब दोनों एक साथ करते हैं तो फिर··"

"तो इस मन की तह में कोई चोर था—ऐसा?......भगवान जाने। तो क्या कोई भी दिल की लगी वासना से खाली नहीं····? नहीं-नहीं, इस दिल की माँग एक ही नहीं—कितनी है! हाँ, 'काम' सब में जबर्दस्त है ज़रूर, मगर वह कुछ एकछत्र नहीं है। भाई, तुमने मेरी तमाम

खुशी रद्द कर दी। मैं फूला हुआ था कि मैं ने सीने पर पत्थर रख एक मार्के का फ़र्ज़ अदा किया है।"

"मार्के का काम तो है ही। लेकिन इस काम में मुमकिन है, 'काम' दो ही आना हो और निष्काम चौदह आना।"

"फिर भी वह सोना तो न रहा, यह कहो कि सुनहला रहा!"

देवी बाबा हँस पड़े। यह घटना उनके दिल की हिलोरों का पता देती है। बेचारे अमीरी में पले थे। गरदन तक भरी हुई थीं अमारत की वासनाएँ। मगर वाह रे ज़ब्त! और वाह री हिम्मत! कभी जो किसी लालसा की दाल गल पाई हो! यह तो सच है कि वे विषय-वासना से परे कोई त्यागी—सन्यासी—नहीं थे, मगर वे अपनी एक-एक रसवंती—लहरी—वृत्ति से लड़ते-भिड़ते आजीवन ब्रह्मचारी तो रह ही गए। यह बात और है कि दुनिया ने कभी उस जीवट को दाद नहीं दी। तो यह तो उसकी मर्ज़ी! उसकी दृष्टि की बलिहारी!

देवी बाबा थोड़ी देर चुप रहे। फिर एक आह खींचकर बोले—

"आख़िर यह बात क्या है कि आदमी जब कहीं रूप देखता है, तो चट उसके ख़ून का प्यासा हो जाता है?"

मैंने अकचकाकर पूछा—"ख़ून का ?"

"और क्या ? वह आँखें सेंककर ही खुश नहीं रहता—दाँत गड़ा-गड़ाकर झँझोरना चाहता है।"

"मगर आप तो झंझोरने की बजाय..."

"मैं तो आदमी नहीं हूँ। तुम्हारे दस्तरख़ान का बिल्ला हूँ। छुटा रहता, तो मेरी जाँच होती !"

मुझे बात का रुख़ फिर बदलना पड़ा। देखा, देवी बाबा कुछ अजब गुम हो गए हैं। वे जब अपने दर्द में डूब जाते, तो घंटों जाने कहाँ लापता हो जाते। उनकी दृष्टि अंतर्मुखी हुई नहीं कि समाधि लगी। और फिर बातों का मज़ा किरकिरा हो जाता।

मैंने कहा—"देवी बाबा, मैं तो दंग हूँ कि वह दिखती तो रही इतनी चुलबुली, ऐसी हँसमुख और दिल के भीतर एक तूफ़ान पाल रही थी !"

देवी बाबा चट खुल पड़े—

"आज तक किसी भी पुरुष ने किसी स्त्री को तह तक पाया है ? वह तो उसकी सतह पर ही तैरता रह जाता है। भाई ! औरत जिस हद तक हमारे सामने आती है, उससे कहीं ज़्यादा वह अपने को चुराकर रखती है। यह चुराना ही तो उसकी अदा का निखरना है। उसकी बातों में तो तुम उसे पाते ही नहीं, निगाहों में भी वह बचकर आती

है। मुस्कानों में तो वह कभी खुलती नहीं और आँसुओं में भी वह ढल नहीं आती! यह रहस्य ही तो नारी का अनूठा अंदाज़—उसकी क़ुदरती ओट है। यह घूँघट ही तो उसका अनोखा आकर्षण है। क़ुदरत ने उसे जितना सुंदर बनाया है, उससे कहीं ज़्यादा सुंदर वह उस झिल-मिल रहस्य के पट से भासती है। मैं तो समझता हूँ, इस परदे में उसकी जो व्यंजना है, खुलने पर वह बात न होगी। यही परदानशीनी तो हमारी कल्पना को गुद-गुदाती रहती है। जिस दिन वह परदा उठाकर सामने आई, उसी दिन वह अपना-सा मुँह लिए रह जायगी। जब तक हमारे भीतर कुतूहलों की चाशनी है, तभी तक वह स्वर्ग की परी है।"

"तो क्या वह कभी उघरती ही नहीं?"

"उघरती है। इशारे से झलक देती रहती है—साफ़ खुलती नहीं। मगर जो कुछ हम देख पाते हैं, वह उसका तमाम रूप नहीं। जो कुछ हम सुन पाते हैं, वह उसकी तमाम ध्वनि नहीं। जो कुछ हम जान पाते हैं, वह उसकी तमाम जानकारी नहीं। हमारा दिल ही पुकार उठता है—नेति, नेति! और मचल-मचलकर पछाड़ खाता है और जानने के लिए। मगर भाई, पा लेने से कहीं ज़्यादा मिठास पाने की तमन्ना में है। तुम जानते नहीं, औरत

की अदा में न जाने क्या है। वह उसका रूप ही नहीं, उसके परे है वह। उसकी मुस्कान, उसका ख़रामे नाज़, उसकी निगाहों के करिश्मे—नहीं, सबके परे है वह; मगर जो कुछ भी हो, वह एक अजब बिजली की लौ है, जिसे हमने न कभी समझा है, न समझेंगे! मगर हम 'उसी को देखकर जीते हैं जिस काफ़िर पे दम निकले'। वह सुंदर तो है ही, शिव भी है। भगवान जाने, सच है या झूठ—"

देवी बाबा उस 'वह' को कभी समझा न सके। कोई आज उसे शायद Sex appeal कहकर जी को समझा ले, मगर मैं तो समझता हूँ कि सेक्स कहकर हम उसकी विडंबना करते हैं, उसकी व्याख्या नहीं।

मैंने हँसकर कहा—"देवी बाबा, आपने यह नारी-ज्ञान कहाँ सीखा? आपको तो कोई ख़ास अनुभव नहीं!"

"यह ज़रूरी नहीं कि मोती का पारखी कुछ मोती का ख़रीदार ही हो। जो जौहर पर नज़र रखता है, वह उसे गले में लिपटाए नहीं रखता। वह लिपट पड़ा तो जान कहाँ पाया?"

× × ×

आज जब मैं देवी बाबा की इन बेतुकी बातों को सोचता हूँ, तो लगता हूँ आप-ही-आप पूछने कि कहीं आज की प्रगतिशीला नारियाँ उनकी नज़रों के सामने

रहतीं, तो उस रहस्य की व्याख्या क्योंकर निभ पाती ! इस परदाफ़ाश के ज़माने में, जब नारी और पुरुष के बीच की लाज और लिहाज़ की तमाम दीवारें तोड़कर मिसमार की जा रही हैं, तब वह अज्ञात का आकर्षण कहाँ तक टिक सकेगा ? मगर शायद मैं ही भूल पर हूँ। नारी ज्यों-ज्यों नज़दीक आ रही है, त्यों-त्यों वह और भी सरकती जा रही है। उभरती तो ज़रूर है, फिर भी अगोचर की अगोचर ही है और केनोपनिषत् की वह अमर वाणी बरबस्ता ज़बान पर उठ आती है—

"यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥" *

---

* जो यह समझता है कि वह जानता है, तो यह समझ ही उसकी नासमझी की निशानी है। हाँ, जो समझता है कि वह नहीं जानता, उसकी समझ सच्ची राह पर है।

मेरे पिता तो देन करके भी देते रहे। बग़ैर दोनों हाथ दिए उन्हें चैन न थी। उन्होंने कभी देखा ही नहीं कि वे कितने पानी में हैं। आमदनी क्या है और ख़र्च क्या! कवि और गवैये तो थे ही, उस ज़माने के कितने फ़न के गुणी बराबर मौजूद रहते। कोई ऐसी कला न थी, जिसके सर पर उनका हाथ न था। और वह हाथ बराबर ऊँचा ही रहा।

देवी बाबा ने एकाध बार कहा भी कि इस दिलदारी का अंजाम अच्छा न होगा। ज़माने की हवा देखकर तो दिल की मौज रखिए। मगर स्वभाव के आगे किसी की चेतावनी कारगर नहीं होती। रियासत क़र्ज़ से लदती गई।

मेरे पिता की आँखें बंद होते ही वह दुनिया दो दिन में उजड़ गई। सूरज का डूबना था कि अँधेरा उतर आया।

जब चमन ही लुट गया तो फिर भौंरों का गुंजार होता कहाँ ? सब उड़ गए । बस्ती सूनी पड़ गई ।

रियासत कोर्ट हो गई । हम दोनों भाई एकाएक आसमान से ज़मीन पर आ गए । अब तक हम ख्वाब देख रहे थे कि जीवन एक मधुवन है ; आज जब आँखें खुलीं तो कहाँ का मधुवन ! वह तो सरासर उलझन है । वह अमारत का कूचा ही छूट गया । हम मुसीबत के शिकंजों में फँस गए । वही हम हैं कि एक दिन हमारी हर बात पर दुनिया पलट जाती, मगर अब बात क्या है कि कोई बात पूछने को भी रवादार नहीं । वह सब रुपए के खेल थे—रुपए के साथ आए, रुपए के साथ लौट गए । चाँदी की वह जगमगाती चाँदनी जो लुट गई, तो फिर जीवन की अँधेरी राह पर आँख खोलकर चलने की ज़रूरत पड़ गई ।

देवी बाबा बराबर दिलासा देते रहे—"कुछ परवा नहीं ! मुसीबत के कंधों पर ही अक्सर कल्याण की सवारी आती है । अमीरों के बच्चे पैदा होने के सिवा और करते ही क्या हैं ? बस, रेशम के हिंडोले पर झूला किए । झुलानेवाले हाथ भी अपने नहीं—दूसरों के रहे ! वे आँख और कान रखकर भी न कुछ देख पाते हैं, न सुन पाते हैं । आदमी को दुनिया में कुछ उलट-फेर भी देखना जरूरी है—दस के मुँह से फटकार भी सुनते रहना ज़रूरी है ;

वरना आठों पहर मीठा देखते और मीठा सुनते वह हो जाता है ढुलमुल मोम का पुतला। उसे जीवन की कठोरता का तजरबा ही नहीं होता। समझे भैया, आराम की जिंदगी बसर करनेवाला न अपने ही को पहचान पाता है और न किसी और को। वह क्या-से-क्या हो सकता—उसे पता भी नहीं चलता। न उसका दिल बढ़ता है, न वह फूट पाता है। रह जाता है भीतर-ही-भीतर सिमटकर। उसका विकास कभी होने को नहीं! लो, तुम्हारे भाग्य अच्छे हैं, जवानी आते ही मुश्किलों से भिड़ने का मौक़ा मिल गया। अभी इस ज़िंदगी में न जाने कितने घाट का पानी पीना पड़ेगा। आज ही लगे छींकने तो आगे कैसे निभोगे?"

मलाई की मलाहियत से अभ्यस्त दाँतों के तले लोहे के चने तोड़ना आसान नहीं होता। मगर हमारे दूध के दाँत टूट चुके थे। ज़माने से लोहा लेने में हमें कोई ख़ास दिक्कत न हुई। अभाव खला तो ज़रूर, मगर वह दाँतों को तोड़ न सका।

हमारी दादी की राय न थी कि हम कहीं बाहर पढ़ने के लिए जायँ। कुछ भी हो, रोटी-दाल तो काफ़ी है। देवी बाबा ने आपत्ति की—

"अरे भाई, वह ज़माना गया कि घी का लड्डू टेढ़ा हुआ तो क्या—सीधा हुआ तो क्या! अब तो उसमें

भी कुछ रंग और बू चाहिए, ताकि लोगों को वह रुच सके। घी का होने ही से उसकी क़दर नहीं।"

हम दोनों भाई पढ़ने के लिए बाहर भेज दिए गए। घर छूट गया। देवी बाबा भी छूट गए। छुट्टियों में जब लौटते, तो एकाध दिन भेंट होती। वह पुरानी साहित्यिक गोष्ठी तो पुर्ज़े-पुर्ज़े हिल चली थी। जिन्हें महफ़िल की तलाश थी, वे तो नई महफ़िल की तलाश में उड़ गए। मगर जो हमारी महफ़िल के फ़ानूस थे, उन बेचारों का दिल बुझ चला। वे जाते कहाँ? तालाब के किनारे मंदिर पर मालती लता के साये में सरेशाम ही आकर बैठ जाते, भंग छानते और बीते दिनों की बात पर मन की खाज मिटाते। दिल जला किए और बाल पकते गए।

बूढ़ा तो जवानी की मधुर स्मृतियों पर ही जीता है। जिसे आगे देखने को कुछ रहा नहीं, वह कंधों पर सर मोड़ पीछे देखता है। उसे देखने को तो कुछ चाहिए ही। वर्तमान यदि नीरस है—भविष्य यदि शून्य है—तो फिर अतीत तो तीता नहीं। जब मुरादों के दिन गुज़र जाते हैं—अरमानों की उमंगें खेल नहीं पातीं—तो फिर अतीत की मिठास बुढ़ापे के हाथ की लकड़ी होती है। बूढ़ा होना भी कोई मामूली बला है! दिन कटता है तो रात काटती है। रात कटती है, तो दिन काटता है।

देवी बाबा को मंदिर के उस साये में देख पहले तो हमें अचरज हुआ। वे उस साये से तो बराबर अलग रह आए। वहाँ उनकी कोई पूछ भी न थी। यों तो तालाब पर वे प्रति दिन आते रहे। स्नान किया, लोटा भरा, छन-भर देवीजी के चबूतरे पर बैठ कपड़े बदले और चल दिए। कभी वहाँ किसी पूजा-पाठ या भोग-राग में ठहरते न थे।

मगर वह ज़माना और था। आज का ज़माना और है। उनके कितने पुराने साथी तो जाने कहाँ उड़कर बस चुके थे। जो बच रहे थे, उनके साथ वह पुरानी खींचतान न थी। खिंचने की कोई वजह भी तो न थी कोई किसी से खिंचकर करता क्या? कोई किसी को बदनाम कर करता क्य? कौन ऊँचा रहा, कौन नीचा? जहाज तो डूब गया था। बीते दिनों के उखड़े हुए तख्ते थाम लोग जान बचाए समय-प्रवाह पर बह रहे थे। यहाँ आपस की खींच-तान की गुंजायश ही थोड़ी थी। बुरे दिनों की गोल आँधी में सभी गिरफ़् थे।

किसी के दिन एक-से नहीं जाते। कभी एक पल एक साल लगता है, कभी एक साल एक पल। सुख की घड़ी जब गुज़र जाती है, तो लगता है कि यह लो, वह तो उड़ गई। और दुख की घड़ी काटे भी नहीं कटती।

आदमी सब सह लेता है—रोकर सहे या गाकर। फिर तो भूल ही जाता है कि वह क्या झेल आया है। सुख की घड़ियाँ दिल से जातीं नहीं! दुख की घड़ियाँ दिल में टिकतीं नहीं। चुंबन की मिठास मन में भरी रहती है। ठोकर का आघात दो-चार दिन में भूल जाता है फिर ठोकरें खाकर भी चुंबन की चाट नहीं जाती।

साल जाते-जाते जब लोगों के पैर जम गए, तो फिर लगे हाथ-पैर मारने। जबतक विपत्ति की चपकलिश में स्वभाव दबा था, तब तक कहीं कोई हलचल न थी। सब पट थे। सब साथ थे। हाँ, एक सूत्र में हम दस का गला बाँध दें, तो उससे कुछ गला नहीं मिल जाता। गला छूटा नहीं कि एक का हाथ दूसरे के गले पर आया नहीं!

× × ×

मेरी बस्ती का पहला प्लेग मुझे भूला नहीं है। भूलने की बात भी नहीं वह। यह वह हाहाकार था, जो घर-घर छा गया।

चूहों पर आया नहीं कि लगे लोग बिल ढूंढ़ने। आदमी पर आते-आते जान पर आ गई। दूकानें बंद हो गईं गाँव भाग चला। जो धनी थे, वे तो शहरों में उड़ गए। जो ग़रीब थे, झोपड़ों में उठ गए। जो झोपड़ा भी नहीं बाँध सकता, उसने प्लेग से भिड़ने को काछा बाँधा। मगर उनमें एकाध तो ऐसे तर्रार थे कि मरे

चूहों के कबाब बनाकर हज़्म कर गए। हमारी समझदार दुनिया उनको सिरफिरों में शुमार करती रहे—बला से !

देवी बाबा तो रहीम का वह मशहूर दोहा दुहरा अपनी कोठरी में डटे रह गए—

"सर सूखे पंछी उड़े, औरे सरहिं समाहिं।
दीन मीन बिनु पंख के कहु रहीम कहँ जाहिं।"

रियासत कोर्ट थी ही। मेरे पिता के वक्त की बात तो थी नहीं। कोई किसी का पुरसाँ हाल न था। हम लोग खुद मोहताज थे। कोई बस नहीं।

मेरी माता ने साथ चलने के लिए लाख कहा, लेकिन वे अड़े ही रह गए। बोले—

"अरे भाई, मैं तो प्लेग का भी प्लेग हूँ। मेरे सामने वह आए तो उसे भी खुदा याद आ जाय !"

आखिर नहीं डिगे। उसी सूनसान हाहाकार में अकेले गढ़ के फाटक पर जमे रहे।

मैंने चलते वक्त कहा भी—"देवी बाबा, कहीं कुछ हो गया तो ?"

"ऐसा ?........मेरा ऐसा भाग ! मुझे यक़ीन नहीं होता। मर ही गया, तो फिर तिल-तिल मरेगा कौन ? क्या मेरी ज़िंदगी सेभी भयंकर कोई मौत होगी ? मेरी क़िस्मत ने बाक़ी

ही क्या रखा है, जिसे मिटाने मौत आएगी ? मैं तो उसी ज़ालिम से बराबर कहता हूँ—

'ज़रा-सी जान बाक़ी रह गई है—
ज़रा फिर देख लो तिरछी नज़र से ॥'

मगर वह सुने जब तो ! उसे तो शिकार खेलना है, जान लेना नहीं।"

"वाह, यह तो अच्छी रही !"

"भाई, मरने से डरता है वह, जिसे किसी का साथ छूटने का डर है। किस ममता के लिए मैं इस सूनी ज़िंदगी के तलवे सहलाऊँ ? मेरे दिल की दुनिया तो कभी की उजड़ चुकी। मेरी आँखें जब बंद होंगी, तो तुम्हीं कहो, किसी की आँखों में दो बूँद आँसू भी होंगे ! किसी के होंठ पर एक हलकी-सी उफ़ भी उठेगी ! और हम अपनी जान ख़तरे में डाल किसी का कुछ कर सके, तो फिर दुनिया की आँखों में उठे या न उठे, अपनी आँखों में तो उठ पाते हैं। यही क्या कम है ! आख़िर एक दिन सर पर कफ़न बँधना ही है, तो उसे आज खुद ही क्यों न बाँधकर दस की सेवा में मिटें। और अगर मौत आ ही गई तो वह तो मुझे इस ज़िंदगी के भार से पनाह ही देगी न !"

बस, सुबह डंडा उठाते और गली-गली चक्कर काट

आते। कहीं मरहम-पट्टी—कहीं दवा-दारू—कहीं दिलासा ही सही। संसार उनसे विमुख भले ही रहे, वे तो संसार से विमुख न थे। किसी ने कभी टोका, तो कह बैठे—"अजी साहब! हम तो जो कुछ कर रहे हैं, अपने शौक के लिए कर रहे हैं; कुछ वाह-वाही की तलाश के लिए नहीं।"

आग जब भभकी, तो कोई किसी के घर झाँकता तक न था। सरेशाम घर-घर के किवाड़ बंद हो जाते। गलियों में एकाध कुत्ते के सिवा किसी का पता न रहता।

देवी बाबा कहा करते थे कि भाई, आदमी की पहचान उसी छन हुई! औरतों की मर्दानगी देखी, मर्दों की ढीली धोती। वह आतंक छा गया कि आदमी अपनी असलीयत पर आ गया। जान के मोह के आगे दुनिया के तमाम नेह और नाते साँप के केंचुल-से छूट गए। औरत से मर्द कहीं ज़नाना निकले। उस संकट के दिन अबला की मर्दानगी चमक उठी। वह अपनी माँग और कोख के लिए जान हथेली पर रखकर लड़ी। मगर हाय रे मर्द! वह जोंक की तरह जान से चिपट गया। उसे परवा तक न रही कि उसकी बहन या स्त्री जीती है या मरती। उसे किसी तरह अपनी जान सवाँर रखनी थी। वह दुम दबाकर भाग खड़ा हुआ। स्त्री अपने से मरे या जिए! अबला के सर पर घर का भार रहा—प्लेग का वार तो था ही।

देवी बाबा

जब १६३४ के ज़लज़ले के धक्के पर मकान की छत टूटकर ज़मीन पर आने लगी, तो हमारे एक पड़ोसी सामने खाट पर बच्चे को सोते हुए छोड़ बाहर भाग आए और उनकी औरत जो अंदर हवेली में थी, वह पिछवाड़े से चटपट मैदान न पकड़ बाहर बैठके में आ पति को पुकारती और बच्चे को गोद में उठाती गई। यारों ने जब उनकी बुज़दिली पर चुटकी ली, तो उनको यही दलील सूझी कि दस महीने मर-जीकर जिसने उसे पाया था, उसको फ़िक्र न होगी, तो उसे होगी जिसे बिना हर्रे-फिटकिरी के घलुए में मिला था ?

पुरुष के पौरुष का ऐसा नंबरी नमूना और क्या होगा !

यह जीवन का वह छन है, जब आदमी की आँखों पर किसी ममता की माया का परदा नहीं रहता। जब अपनी जान पर आ पड़ी, तब कहाँ का बंधन और कहाँ का आकर्षण ! पल में वह चिरपरिचित दुनिया पलट गई। न वह आसमान रहा, न वह ज़मीन रही। मानवता रही, न ममता। भय के सामने मनुष्य और पशु का भेद ही मिट जाता है।

उस दिन सुबह वे हसबमामूल फेरी पर निकले, तो बिचली गली के मोड़ पर एक वावैला सुनकर ठमक पड़े।

"हाय ! लुट गया ! मेरे सात सौ नक़द डूब गए—"

देवी बाबा ने समझा कि ब्राह्मण देवता के घर चोरी हो गई। प्लेग में सब लोग बाहर भाग चले हैं—चोरी के लिए मैदान खाली रह गया है।

फिर वही हाय-तौबा ! आवाज़ पहचानी हुई थी। देवी-बाबा लपककर गए।

"क्यों कविजी ! माजरा क्या है ?"

"क्या बताऊँ भाई, मैं तो उजड़ गया।"

"आख़िर कुछ कहिए भी तो !"

"मेरे घर में—"

"चोरी हो गई ?"

"अजी, नहीं !"

"मैंने तो समझा कि आपके रुपयों पर प्लेग आया !"

"तो आपने ग़लत क्या समझा ? सात सौ नक्द गिन उसे लाया था न ! उसका बाप कोई ऐसा-वैसा चंट है !"

"ओः ! यह बात है ? तो फिर रुपयों के लिए भी तो कुछ रहम रखिए ! चले कहाँ बोरिया-बस्ता बाँधे ? आख़िर जब तक साँस, तब तक आस !"

"इस आग में रहूँ ? ख़ूब ! आपने सुना नहीं—

'आत्मानं सततं रक्षेत् दारैरपि धनैरपि।' "

"जी, जभी तो यह फुर्ती है !"

"अरे भाई, कहीं मुझे कुछ हो गया, तो बेचारी भरी

जवानी में डूब जायगी।"

"और उसे कुछ हो गया, तो सात सौ रुपए डूबते हैं—यह भी मुश्किल!"

"वही तो क़लक़ है, मगर चारा?"

"सात सौ और सही। आख़िर बाज़ार तो कुछ चढ़ा नहीं है।"

"मेरी उम्र जो चढ़ रही है! वह न दर बढ़ाकर धर देगी! और पैसे रहे कहाँ?"

शाबाश, हिंदुओं की धर्म-नीति! स्त्री तो मुर्दे की चिता पर ज़िंदा जले—उसका वह चरम धर्म है। और पुरुष? वह उसे संकट के समय ज़िंदा ही मरने को छोड़ भाग भी खड़ा हो, तो कोई अत्याचार नहीं। अत्याचार क्या! उसने उपकार किया—चूंकि माँग-भर सिंदूर लिए मरने से बढ़कर स्त्री के लिए दूसरा स्वर्ग नहीं।

मगर रात बहुत कट चुकी। अब थोड़ी बाक़ी है। आख़िर मुर्ग़ बाँग न भी देगा, तो भी आँखें खुलकर रहेंगी। यह पुरानी दुनिया ख़्वाब से बेदार होने लगी है। वह आँखें मींज देखती है कि पुरुषों ने अपने नंगे स्वार्थ पर सती-धर्म की पालिश देकर भारत की नारी को चकमे में डाल रखा है।

धर्म का चकमा इस जीवन का सबसे बड़ा चकमा न

होता, तो स्त्री के गले की साँकल उसकी निगाह में नारीत्व का ज़ेवर न होती। उस भार से उसकी छाती की पँजरियाँ पिसती रहीं, पर ज़ंजीर की एक-एक कड़ी पर धर्म की मीना-कारी ऐसी दिलफरेब थी कि ज़बान पर उफ़ तक नहीं उठी—और रसोई से सौरी और सौरी से रसोई का आजीवन चक्कर पति-सेवा की नींव पर चलता का चलता रह गया।

हाँ, अब तक नहीं उठी, तो अब उठने में देर भी नहीं। हमें खटका है कि कहीं वह 'उफ़' उठकर आसमान घेर लेगी तो अतीत की दुहाई देकर हमारी सफ़ाई भी काफ़ी न होगी। कहीं इस 'उफ़' से प्रतिशोध की चिनगारियाँ फूट पड़ीं, तो फिर वह और हम दोनों जलकर ख़ाक हुए।

कविजी की अजब कैफ़ियत रही। जब एकाध चूहे टपके और मुहल्ले के पैर उखड़ने लगे, तो आप मूँछों पर ताव देते रहे! किसी को हिलने नहीं दिया। भला, यहाँ प्लेग की टाँग पड़ेगी! कुछ धूप में बाल पकाया है मैंने? अगर वह आया भी तो भैरव के चक्र के बाहर ही क़दम रखेगा। और उन्होंने भैरवी अनुष्ठान के चंदे उगाह तमाम मुहल्ले को उसी चक्र के भीतर रख लिया। मगर जब वह चक्र उनके घर ही पर टूटा तो तमाम फुर्ती काफ़ूर हो गई। अब तो शायद भैरव महाराज भी मुजस्सिम आकर आरज़ू करते, तो भी कानों पर जूँ न रेंगती!

देवी बाबा कविजी के घर पहुँचे। मुहल्ले में एक चिड़िया का पूत नहीं। देखा, अभी साँस है। यह वही धर्मपत्नी थी, जिसे परसाल कविजी विवाह के बाजार में सात सौ नक़द गिनकर ख़रीद लाए थे। यह मशहूर बात थी कि सोते-जागते वे बराबर उस बेचारी पर दिल के फफोले फोड़ते। उसे सुना-सुनाकर सचेत रखते कि वे उसे कुछ मुफ़्त नहीं लाए—पूरी क़ीमत पर मोल लाए हैं। और रूप का दिमाग़ ताक़ पर रख वह आठो पहर बंदगी नहीं बजाती और साल जाते-जाते उनके वंश का एक दीपक नहीं देती, तो उसे रोटी के भी लाले न पड़े तो वह उनके नाम पर कुत्ता पाल देगी। और वह बेचारी सुनते-सुनते और सहते-सहते इस क़दर बेज़ार हो गई थी कि शायद पति के प्लेग की जगह रोग के प्लेग को उसने वरदान समझा और संभव है कि यही वजह थी कि देवी बाबा के लाख इसरार पर भी उसने न दवा पी, न कंठ की गिल्टी पर पट्टी बाँधी। हाँ, जब कंठ सूखता रहा, तो पानी-पानी बर्राती रही।

उस गाँव में बीमार तो और थे। पर ऐसा कोई लाचार न था। कोई उसका पुरसाँ हाल नहीं। कविजी उसे मुहल्ले की दो औरतों की देख-रेख में रख भाग खड़े हुए थे। मगर उनके क़दम गाँव के बाहर भी नहीं पहुँचे

होंगे कि उनके घरों में भी प्लेग की सवारी आ गई। फिर तो वे बेचारी पड़ोसी का हाल देखें या अपना। देवी बाबा उसकी बेबसी पर मोम हो गए। दोनों वक्त क्या—दिन में दो बार और शाम को एक बार बराबर जाकर देख आते।

दो दिन बाद वह लगी करवटें बदलने। आँखें खुल गईं। जो बे-मौत मर रही है, उसे मौत भी नहीं छूती। बस, सूँघकर छोड़ देती है।

उसे काफ़ी कपड़े-लत्ते भी न थे। सर्दी का ऐयाम। लगा पानी पीटने। प्लेग से पल्ला छूटा, तो वह पाले के पाले पड़ी। देवी बाबा करते क्या? अपना कंबल उढ़ा आए। वह मरी तो नहीं, लेकिन घुल-घुल मरने को जी गई।

जी तो गई वह, पर प्लेग और पाले से भी करारी भूख निकली। घर में भूँजी भाँग नहीं। कविजी बाहर तो कुछ रख न गए थे। वे तो शायद समझ रहे थे कि वह तो बचती नहीं—कम-से-कम घर की कमाई तो बचे। मगर भगवान की मर्ज़ी—जो बचनेवाली नहीं थी, वह बच गई और जो बचाकर रखी थी, वह नहीं बची। ख़ैरियत थी कि क़ीमती जेवर जो कुछ थे, उसे साथ लेते गए थे। जो कुछ नक़द या जिस अंदर की कोठरी में बंद था, उसे ताला तोड़ कोई उठा ले गया। जब वह अच्छी हो चुकी तो उसे चोरी का पता चला। देवी बाबा तो अंदर की कोठरी तक

झाँकते न थे। उनको चोरी की ख़बर तक नहीं थी।

अब वह खाती क्या? नवेली बहू ठहरी—बाहर जा भी नहीं पाती। और कहीं जाने लायक़ थी भी तो नहीं। मुहल्ला सूना पड़ा था। गाँव में सिर्फ़ कुत्ते घूम रहे थे।

देवी बाबा खुद फ़ाकामस्त। लगे तारे गिनने। आख़िर उन्होंने पेट काटकर दिया ही। वह उनसे लेती न थी—टालती गई। पर जब चोले में साँस रखने की कोई दूसरी सूरत न निकली, तो आँचल पसारना ही पड़ा।

मगर ज्यों-ज्यों झेलती रही, त्यों-त्यों भीतर ही भीतर सिमटकर कठोर होती गई। पति की यह तोताचश्मी उसके कलेजे में चुभ गई। अपना भी इतना पराया हो सकता है—उसे पता न था। उसे यह भी पता न था कि पराया भी कभी इतना अपना हो सकता है। मगर हाँ, वह अपना होता कैसे? जिसे दुनिया अपना कहे वही तो अपना होता है! हमारा दिल जिसे अपना पुकारता है, उसे दुनिया कहाँ अपनाने देती है? आख़िर कौन अपना है—कौन पराया! जो हमारे सुख का साथी है, वह तो अपना बनता ही है; मगर जो दुख का साथी है वह? जो सर पर सिंदूर रखता है, वह तो सब कुछ बन बैठता है, और जो सर पर हाथ रखता है—वह?

आख़िर गाँव ठंढा होते-होते कविजी बोरिया-बस्तर बाँधे

वापस आए। सुख का साथी सुख लूटने लौट आया। दुख का साथी दुख के बाद छूट गया। भगवान जाने, वह फिर दुख माँगती रही या सुख! भगवान जाने, उसे उस दुख में सुख था या—'आज आए मोर सैयाँ' की उछाह से वह नाच उठी। मैं तो समझता हूँ कि उसकी बाईं आँख फड़की नहीं। अगर फड़की भी होगी, तो दाहिनी। चूँकि कविजी नहीं आए, उसके सर पर प्लेग आया। और वह प्लेग उस प्लेग का भी चचा निकला!

गाँव के छोर पर आते ही उनको चोरी का पता चल गया। गाँव के भीतर आते ही लगीं उँगलियाँ उठने। कहीं कानाफुसकी, कहीं हाहा-हीही। उनकी पिलही चमकी। हठात् एक लाला साहब मिल गए। आप पानी में आग लगाने के फ़न में अपना सानी नहीं रखते थे।

कविजी के पसीने छूटने लगे। बोले—

"अरे भाई, बात क्या है? कुछ बताओ भी तो!"

"भगवान जाने, हमें क्या पता है? जाता तो वहाँ देवीलाल रहा। आप दस रुपए की चोरी ही देखते हैं और लाख रुपए की......"

कविजी ने आँगन में क़दम रखते ही आव देखा न ताव—बस, भूखे भेड़िए की तरह टूट पड़े। बातों ही बातों में लात की नौबत आ गई।

कविजी क्रोध से काँपने लगे—उसने उनका तमाम धन अपने यार को चला दिया। वह मर क्यों न गई। उसे कल ही चमार के हाथ बेच न दें तो वे ब्राह्मण नहीं—चमार!

मुहल्लेवाले दरवाज़े पर आकर कुत्सा के इस रस का मज़ा लेते रहे। किवाड़ की फाँक पर आँख रखने के लिए लोगों के कंधे छिलने लगे। जो आँखें सेंक पाए, उनकी छाती जुड़ा गई। जो आँख लगा न पाए, वे कान लगा मगन रहे। और जो आँख और कान दोनों के स्वाद से वंचित रहे, उन्होंने सुराही का पेंदा ही चाट अपनी भूख मिटाई। कम-से-कम नमक-मिर्च लगा एक दिलचस्प ड्रामा तैयार करने का काफ़ी मसाला तो उन्हें भी मिल गया।

जब देवी बाबा के कान में भनक पड़ी, तो वे सन्न हो गए। उन्होंने तो शायद यह उम्मीद पाल रखी थी कि कविजी लौटकर दोनों हाथों उनकी बलाएँ लेंगे। यह तो सपने में भी संभव न था कि उस ख़िदमत के एवज़ उनको यह जघन्य अपवाद मिलेगा। जब उस तूफ़ान के वक्त कोई किसी का पुरसाँ हाल नहीं था—वे जान हथेली पर रख प्लेग की आग में कूद पड़े थे। घर-घर दवा और दुआ लिए बराबर चक्कर लगाते रहे। उस सरफ़रोशी का यही एहसान है। इतनी जल्द दुनिया उसे भूल गई! जब

यह हाल है, तो कब कोई किसी का साथ देगा ? उनका दिल टूट गया और वे माथा ठोक बैठ गए। 'चला था दुनिया का दिल ढूँढ़ने—मगर हाय रे अभागा ! किसी की छाती का कोर भी नहीं छू सका।'

बस्ती के गिने-चुने आदमी तो कभी दिल से उनके साथ न थे। उनको एक और हथकंडा मिल गया। बिल्ली के भागों छींका टूटा। देवी लाल की सेवाओं की जो गुंजन-ध्वनि उठ चली थी, उसे बात की बात में छू-फू कर देने के लिए यह एक अमोघ मंत्र की फूँक निकली।

उधर पति के हाथों उसकी जो मरम्मत हुई, उसे लेखनी क्या लिखे ? वह विधाता के हाथ का लिखा है। यों तो वह पहले ही से मरी बैठी थी ! इस नई चोट से पैमाना भरकर छलक पड़ा। हड्डियाँ तो चूर-चूर न हुईं—जीवन की ग्रंथियाँ चूर-चूर हो गईं। आसमान नहीं फटा। ज़मीन नहीं फटी। एक औरत की छाती फट गई।

आख़िर वह कब तक पिए जाती ?

माता की उसे याद न थी। बाप ने तो बाजार में रख उसे बेच ही डाला था। बस, पशु के घर पली। सयानी हुई, तो फिर पशु ही के हाथ पड़ी। उसने मनुष्य तो शायद कभी देखा ही नहीं था। जब देखा, तब पहचाना। हाँ, पहचानकर करती क्या ? वह तो जानवर की हो चुकी थी।

मगर नहीं, मनुष्य के उस परिचय ने उसकी आँखें खोल दीं। उसे पता चल गया कि इस दुनिया में जानवर ही नहीं, एकाध इनसान भी हैं। इतनी समझ उसे थी कि यहाँ पर तो किसी मनुष्य का साया थामना उसके लिए संभव नहीं था। घर के भेड़िए के पंजे से उसे नजात न थी। न सही यहाँ, कहीं तो कोई मनुष्य मिलेगा? शायद यही उम्मीद बाँध वह एक आधी रात को गुम हो गई। उस बेचारी को यह पता न था कि घर के बाहर जानवरों का भय और भी घनघोर है। पता नहीं, उसे कोई मनुष्य मिला या खूँख्वार भेड़ियों ने उसे चीर-फाड़कर ख़त्म कर दिया।

देवी बाबा ने सुना, तो गुम हो गए। जाने कितने छन खोए-से ताकते रहे। जब आँखें भर आईं, तो कुछ अट-पटे-से होठों पर कहकर रह गए—

"भाई, जब सोचता हूँ, वह कहाँ भटक गई होगी, तो...उफ़!—नहीं......नहीं......"

हाँ, एक भूल हो रही है। वह जाते-जाते अपने अत्याचारी के दाँत तोड़ती गई। तमाम ज़ेवर साथ लेती गई। कविजी ने पहले तो सोचा कि वह ऊबकर नैहर भाग गई होगी, मगर जब वहाँ भी कोई पता न चला, तो लगे तीनों लोक देखने! उनके मुख पर कालिख पोत वह भाग गई—

यह मलाल तो था ही, पर करारी चोट तो पच्चीस-भर सोने की पड़ी। अब वे दिल का बुख़ार उतारें तो किस पर! पलटकर देवीलाल पर टूटे। उन्होंने ही कहीं उड़वा दिया। आख़िर क्यों और कैसे—इस तर्क के लिए वे तैयार न थे। और दुनिया बग़ैर छान-बीन किए चट उसे मान गई। देवी बाबा लाख चिल्लाकर कहें—"अरे भाई, वह तो आदमी थी—तुम एक चींटी को कुचलकर देखो, वह भी तलवे में दाँत गड़ाकर तो दम तोड़ेगी।" मगर किसी ने कुछ सुना नहीं। लोग कहते—"अजी साहब, कहीं परदे की पत्ती भी बग़ैर किसी शह के कभी उड़ पाई है!"

क्या बात है कि हम किसी का अवगुण तो चट सुन लेते हैं, उसका गुण नहीं सुन पाते? हम देखकर भी उसे देख नहीं पाते? सुनकर भी उसे सुन नहीं पाते? बुराई में इतना विश्वास और भलाई में तनिक भी विश्वास नहीं! हमें क्यों किसी की कुत्सा में मज़ा मिलता है? उसे कहते, उसे सुनते एक इतमीनान—एक दिलबहलाव भी होता है। और किसी की अच्छाई सुनी, तो जाने क्यों कोई अंदर से बोल उठा—'ऐसा? अजी, वह बनता होगा!'

आख़िर यह क्यों?

तो क्या हम किसी को अपने से अच्छा देखना नहीं चाहते? किसी को हम अपने से अच्छा देख नहीं पाते?

शायद हम अपनी ही शक्ल हर सूरत में देखना चाहते हैं, और बस, अपनी ही शक्ल हर सूरत में देखते हैं ! तो क्या हम अच्छे होते तो अच्छा ही देख पाते ? बुरे हैं तो बुरा देखते हैं ? जो भला है, उसे हर जगह भलाई ही पहले दीखती है ? जो बुरा है, उसकी नज़र चट बुराई ही पर टूटकर जाती है ?

तो क्या किसी पर फूल बरसाने के बदले कीचड़ उछालना कहीं सुगम है ? फूल लोढ़कर लाने में एक दौड़-धूप है और कीच तो जहाँ हाथ डाला, वहीं मौजूद है ? यह बात और है कि जब वह हमारे छींटों की पहुँच से ऊपर उठ किसी उँचाई पर बैठ जाता है, तो फिर उसके पैरों के तले की धूल में लोटने में भी कोई मुज़ायका नहीं।

क्या यह सच है कि हम अपने दोस्तों को अपना दिल नहीं दिखाते—अपना बना-ठना मुँह दिखाते हैं ? काश, हमारे मित्र हमारे दिल की बात जान पाते, तो हम उनके सामने मुँह दिखाते पानी-पानी न हो जाते ?

और काश, हम अपनी शक्ल अपने दिल के आईने में देख पाते तो फिर कोई भी शक्ल हम से भद्दी नज़र न आती।

उस बार छुट्टी में हमने घर आकर सुना कि देवी बाबा एक नई बला में गिरफ़्त हैं।

हमारे यहाँ ईरान का एक सौदागर आता रहा। सुना है, उसके वालिद भी पहले आया करते थे। ईरान की बनी कितनी नायाब चीज़ें उसके साथ आतीं और हाथों-हाथ बिक जातीं। हमारे लिए तो नए तोहफ़े हर बार लाता। उसका वह हट्टा-कट्टा डील-डौल आज भी मुझे याद है। वह छाती—वह कल्ला—कि एक तमाशा था। थूथनी-सी शक्ल—तामड़ा सिर—मेंहदी में रँगी दाढ़ी। था तो वह बूढ़ा, पर दम-ख़म में वह खुर्राट सिकंदर कि हमारे यहाँ के जवान पट्ठों के भी दाँत खट्टे कर देता।

उसकी युवती स्त्री बराबर उसके साथ आती। बूढ़े की जवान बीबी अपने शौहर पर सुलतानी तो करती है, मगर वह भी उसे अपनी नज़रों के तले नज़रबंद रखना चाहता है।

उस क़िलेबंदी के भीतर ही उसकी तमाम मनमानियों की नाज़बरदारी उसे क़बूल है—बाहर नहीं। आदमी की बुनियादी वृत्ति एक है—हिंदुस्तान हो या ईरान। शायद यही वजह है कि हज़ारों असुविधाओं के बावजूद भी उसे सर पर ढोते फिरना वह गवारा करता। वह तो हमारी ज़बान समझती न थी—हाँ, उसका शौहर कुछ कटर-मटर ज़रूर बोल लेता।

इस बार जो वह आया, तो बेचारा हाथ मलता रह गया। बीबी तो उसके साथ आई थी, खुशनसीबी साथ नहीं आई थी। उसने हसबमामूल सराय में डेरा तो डाला मगर कहीं डोरी डालने की तो गुंजाइश न थी। मेरे पिता रहे नहीं, उसे पूछता कौन? उन नाज़ुक चीज़ों का ख़रीदार तो कोई था नहीं। आख़िर लगा इधर-उधर देहात में चक्कर काटने। और इस चक्कर में उसे कहीं कॉलरा ने धर दबाया। अकेली बीबी को हजारों मील दूर विदेश में छोड़ वह सदा के लिए चल बसा।

बीबी के साथ एक आठ-दस साल का बच्चा भी था। वह भी उसका नहीं, कोई अनाथ था वह चाँद का टुकड़ा। बड़ी-बड़ी आँखें। गोल-मटोल मुँह। ऐसा सुडौल कि देखनेवाला देखता रह जाय।

अनजान देश। अनजान ज़बान। बड़ी-बड़ी आँखों-

वाली अकेली युवती। हज़ारों का सामान उसके साथ—लाखों का हुस्न। कहाँ चुराती उन क़ीमती चीज़ों को, उन चुटीली नज़रों को!

रियासत कोर्ट थी। किसी का रोब-दाब नहीं। कोई किसी का पुरसाँहाल नहीं। और हसीन अगर बेकस हुई, तो किस मर्द के मुँह में पानी नहीं भर आता!

बदमाशों ने देखा, मैदान ख़ाली है। लगे इर्द-गिर्द मँडराने।

किसी अनजान जगह ज़बान का धागा एक अपनापन का नाता है। देवी बाबा के सिवा फ़ारसी का वैसा जानकार हमारी बस्ती में कोई और बचा न था। और फ़ारसी के सिवा कोई और ज़बान वह बेचारी जानती न थी। इसी नींव पर परिचय हुआ। देवी बाबा क्या मिले, डूबते को किनारा मिल गया।

वह उसके शौहर से भी काफ़ी परिचित थे। ज़माने की हवा से तो परिचित थे ही। जाकर डट गए। बदनाम होने के लिए तो वे इस ज़मीन पर आए ही थे। बदनामी से डर हाथ समेट रखते तो उसकी पीठ पर हाथ दे पाते!

यारों की दाल गलने नहीं पाई। लगे हाथ मल-मल देवी बाबा पर कीचड़ उछालने। अजी साहब, वह उसके माल की चाट पर गए या उसके जमाल की चाट पर गए—

गए तो ! बग़ैर किसी चाट के कोई कब किसी ग़ैर का साथ देता है ? भिखारी की विधवा बहू चार-चार नादान बच्चों को लिए बाज़ार की ख़ाक छानती फिरती है। मुंशीजी बड़े रहमदिल बनते हैं, तो उस पर नज़र क्यों नहीं फिरती ? बेकस नहीं है वह ? औरत नहीं है वह ? अरे भाई, वह कलूटी है न ? काली-कलूटी भी किसी की कृपा का पात्र हो सकी है ? जेवरों से भी लदी रहती, तो उसके आँसू में आँसू मिलाने के लिए देवीलाल ऐसे कितने फ़ाकेमस्त धड़ल्ले-से टूटकर आते !

जब सरकार की मृत्यु होते तमाम मजलिस के सर पर आसमान फट पड़ा था, तब सब के सब एक-सी आफ़त में गिरफ्त एक-दूसरे के निकट आ गए थे। एक दूसरे के सर पर पैर रख ऊपर चढ़ने की उस छीना-झपटी की गुंजा-इश ही नहीं रह गई थी। जब दरबार ही न रहा, तो ऊँच और नीच का भेद भी मिट चला। देवी बाबा तक भी समवेदना छू चली थी। मगर एक धनी युवती के दर पर उनकी रसाई लोगों की निगाह में उनकी ऐसी उन्नति थी कि उस उँचाई से नीचे गिराकर पैरों के तले कुचल-कुचलकर उनकी उस ढिठाई का मज़ा चखाने के लिए कितनी छातियों में खलबली-सी मच गई।

जब उस बार मैं छुट्टी में लौटा तो उनकी बदनामी का

बाज़ार गर्म पाया। देवीलाल उसके मुँह का लुआब चाट चुके हैं—यह तो ख़ैर किसी ने देखा न था, मगर उसके हाथ की पकाई बिरियानी चख चुके हैं—इसकी शहादत में तलहथी पर तुलसी रखनेवालों की कमी न थी। नास्तिक तो वे थे ही, तुर्क भी हो गए हों, तो कोई अचरज नहीं। हाँ, बड़े लोगों ने बड़े-बड़े मनसूबे तो बाँधे, मगर सामने जाकर बिल्ली के गले में घंटी बाँधने को कोई तैयार न था। वही पुरानी कानाफूसी, वही छींटाकशी!

जब उस सराय से कितनी चीज़ें ढो-ढोकर देवीलाल के दालान में लाकर रखी गईं, तो कोई यह मानने को तैयार न था कि सिर्फ़ सुरक्षित रखने ही के लिए यह तमाम इंतज़ाम है। देवीलाल एक-एक चीज़ को फिर एक दिन वैसे ही वापस कर देंगे—यह किसी के विश्वास की दौड़ के बाहर की बात थी। जब वह घंटों आकर उनकी कोठरी में बैठ जाती है—देवीलाल घंटों जाकर सराय की उस कोठरी में बैठ जाते हैं—तो यह बैठक सिर्फ़ विधवा की आँखों से आँसू उठाने ही तक सीमित होगी—किसी की खोपड़ी ऐसी औंधी नहीं है! अजी जनाब, ज़रूर दाल में काला होगा!

अजब बेहया है यह दुनिया! लोगों को उसकी बेबसी पर जितनी हवस उपट आई, उसकी आधी भी तरस आती,

तो आदमी के ढाँचे में सरापा पशुत्त्व की जगह इनसानियत का भी कोई छींटा है—इसकी उम्मीद बँधती। आज आदमी में भय का माद्दा न रहता, तो वह कितना भयावना हो उठता! शर्म तो उसी भय का सपूत है। रह गई धर्म की भावना! वह भी तो भय की बेटी है—पलकर जवान हुई हो सौजन्य के घर, तो किसी को बहस नहीं।

जब पति के सहारे का आसरा जाता रहा तो वह इस अनजान विदेश में धन और यौवन लिए दो दिन भी बच-कर रह पाती? फरिश्ते तो छाँह देने आसमान से उतरते नहीं। हाँ, वह कोई डर जगा पाती, तो निडर रहती। मगर जो खुद बेकस है, वह किसी को किस बात का डर देती? वह न किसी की कोई थी, न उसका ही कोई वहाँ था।

अब रह गई धर्म की उम्मीद या शर्म्म की उम्मीद। लोग धर्म के ख्याल से रुकते या शर्म की वजह रुकते।

धर्म है भी मन की मुँहज़ोर वृत्तियों के शासन की बागडोर। स्वार्थ और लोभ के हाथ से बचाव ही के लिए न एक अवलंब है धर्म? मगर क्या हमारा स्वार्थ धर्म का जामा पहन धर्म के सिंहासन पर अकड़कर नहीं बैठ जाता? स्वार्थ के आगे कभी धर्म की दाल गली है या गलेगी?

और शर्म तो मर्द की शर्म मान ली गई है। वह स्त्री की शोभा भी अब मुश्किल से रह गई है। मर्द की तो वह

तबाही है—तबाही। आज तो कमज़ोर की ज़बान पर धर्म की दुहाई है। कमज़ोर के सर पर शर्म की सवारी है। जो दिलेर और दबंग है, वह इन ढुलमुल ख़ामख़यालियों में छनभर भी अटकता नहीं।

हाँ, उसकी बेबसी पर करुणा उपट पाती! उसके पास आँसू थे भी काफ़ी। आँसुओं की बौछार से लोगों का दिल हिला देती। उसके रोने पर पत्थर भी पिघल जाता! मगर हम पूछते हैं, परकटी कबूतरी की चीख़ पर कहीं किसी बाज का दिल हिला है? ज़बह होती मुर्ग़ी की चीख़ से हम उसके मुलायम गोश्त के मज़ेदार क़ोरमे का मज़ा भूल पाते हैं? हमें पता है कि आदमी को इनसान होने का दावा है और उसी दावे की वजह किसी की बेबसी पर छाती में हिंसा उठी नहीं कि करुणा भी चट उपट आई। मगर उस खड्गहस्त लालसा के आगे करुणा किस खेत की मूली है? भीगी बिल्ली की तरह दुम दबाए गुम हो गई। अलबत्ता हमारी हिंसा काँपती है तो डर से। अगर डर उपट आया तो हमारी लालसा की नानी मरी।

देवी बाबा के मैदान में उतरते ही डर बँध गया। मुँह के पास आया हुआ शिकार उड़ गया। पीठ पर छींटे फेंकने के सिवा सामने सीना भिड़ाने का किसी में दम नहीं था।

देवी बाबा ने उसकी निगरानी पर कड़ी नज़र रखी। खुद सुबह-शाम आते-जाते रहे। वह भी आने-जाने लगी। सुना कि उसके घरवालों को ख़बर भी दी गई। मगर कहाँ ख़बर गई—कब गई—पता नहीं। हिंदुस्तान में तो शायद उसका कोई अपना था नहीं। होगा भी तो वह आया नहीं।

इधर दिन पर दिन जाने लगा। कौन कहे, कहीं दिल पर दिल आने लगा। कौन कहे, कहीं वह आने लगी हो उनकी कल्पनाओं में, उनकी पीड़ाओं में, उनकी आकांक्षाओं में, और शायद उनकी आशाओं में! कौन कहे, कहीं यह दिल की लगी केवल आँसू में ही भीगी हो—किसी लालसा के लहू में पगी न हो!

मगर किसी बेकस हसीन के साथ सहानुभूति भी तो ख़तरे से ख़ाली नहीं। क्या बात है कि लगता है आँखों आँखों में दिल झाँकने! लालसा जब सामने मैदान नहीं ले पाती है, तो करुणा का दामन थाम चोर की तरह हौले-हौले पग उठाती लगती है बढ़ने। वह मन का चोर तो मन को भी चकमे में रखता है। उसे भी पता नहीं चलता कि करुणा के आस्तीन में कामना खंजर लिए चुप बैठी है। अनजान प्रेम की पहली टेर दिल के कान सुन भी नहीं पाते। सुनते हैं तब, जब लगता है उस टेर में राग भरने। शायद करुणा की पवित्र धारा जब रूप और यौवन

की घाटियों को छूती है, तब मन की हवा की मौज लगती है उस कगार से पंक कुरेदने और फिर गंगा का पानी भी अपनी अनासक्त मर्यादा पर टिक नहीं पाता। भगवान जाने, हमारी निवृत्ति भी कहीं प्रवृत्ति ही की ऐयारी न हो, जिसे मनुष्य क्या, देवता भी नहीं भाँप पाते।

मेरा अनुमान है कि देवी बाबा ने अपनी सहानुभूति की तह में एक निराली टीस का आभास पाया नहीं कि उनकी आँखें खुल पड़ीं। दिल के पहलू में यह लालसा ख़ामख़ाह कहाँ से उठ आई—आते ही झंकार दे उठी। हाँ, तो आई है यह बेहया अपनी तमाम मोह-माया लिए मेरा मान ख़रीदने! अच्छा, खड़ी रह, दिखाता हूँ तुझे इसका मज़ा!—संभव है, कुछ ऐसी ही प्रतिक्रिया उनके भीतर उभर आई। उस उठान में तूफ़ान की पदध्वनि न होती, तो वे ऐसे विचलित न होते। उनकी वह लापरवाही, वह बेतकल्लुफ़ी—गुम हो गई।

वे एक दिन एकाएक बेतरह चंचल हो उठे और कुछ हाँफते-से लगे दरियाफ़्त करने कि ईरान में उसके घर पर तार देने की कौन-सी तरकीब होगी! कराची और पेशावर में भी एकाध संबंधी हैं। वह नाम तो बताती है, पूरा पता नहीं दे पाती। उनको ख़बर देने का भी कोई तरीक़ा निकालना होगा। हमारे पूछने पर पता चला कि

फ़ारसी में एकाध ख़त तो उन्होंने डाक में डाल दिए हैं—पता नहीं, वे मंजिल पर पहुँचे या नहीं !

बाबू नंदकुमार लाल कोर्ट से हमारे गार्जियन नियुक्त होकर आए थे। आदमी थे तबीयतदार। ज़रा हँसकर बोले—

"देखिए ना—ऐसी भी क्या जल्दी है ?"

"अजी वाह ! मेरा सर दुखने लगा। आख़िर कब तक उसे ढोता रहूँगा ?"

"अभी ढोया ही कहाँ आपने ? मशहूर तो है कि अब वह यहाँ से हिलना नहीं चाहती। आपका साया जो बना है—"

"मास्टर साहब ! मैं जनम का भूखा तो ज़रूर हूँ, मगर वह भूख मुझे कुछ खा न पाएगी। वह मेरी ही ख़ूराक रहेगी—उसकी ख़ूराक मैं न बनूँगा !—"

और फिर एक भरी हुई आवाज़ में बोले—

"मुझे पता है कि फ़र्ज़ भी आगे चलकर एक दिन मर्ज़ हो सकता है। इसीलिए जो कुछ फ़र्ज़ था, वह हो चुका। अब आगे बढ़ेगा, तो वह मर्ज़ होगा।"

"और इस मर्ज़ की कोई दवा नहीं—क्यों ?"—मास्टर साहब के होठों पर एक मीठी मुस्कान थी।

"आसार नज़र आते ही पहचान हो गई तो वह कुछ

असाध्य नहीं। वरना—मर्ज़ बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की।"

"तो आपने आसार का पता पा लिया?"

"जी हाँ, अभी पाया है। दिल की राह उसके क़दमों की टेढ़ी-मेढ़ी धुँधली-सी निशान!"

और वे चट गा उठे—

"अभी इस राह से कोई गया है
कहे देती है शोख़ी नक़्श-पा की।"

× × ×

देवी बाबा ने आना-जाना कम कर दिया। वह तो पहले से ही कम कर चुकी थी। सड़कों पर दो-तरफ़ी निगाहों और उठती उँगलियों की गोलेबारी में बराबर आना-जाना कोई खेल नहीं था। शायद दोनों में कोई भी इस ख़िलवत की भेंट के लिए खुलकर तैयार नहीं था। संभव है, दोनों ही किसी गुप-चुप बे-बात की बात के लिए जिस क़दर आतुर थे, कुछ उसी क़दर कातर भी थे।

हम मिलें भी, पर हमारा साथी यह न समझे कि हम यों ही मिलने आए हैं—कुछ ऐसी ही मनोवृत्ति की बानगी होगी। एक ओर उत्कंठा तो दूसरी ओर आशंका। जी चाहता है, फिर भी डरता है। यह वह डावाँडोल स्थिति है कि आदमी

न मिल पाता है, न बिछुड़ पाता है। रह जाता है दोनों के बीच टँगकर। लगी रहती है किसी आड़—किसी हीले—की तलाश!

अक्सर वह सराय से आते-आते रास्ते में ठमककर खड़ी हो जाती। जाने क्या सोचती, शून्य में देखती रहती, फिर किसी आवेश से मुड़कर लौट पड़ती। मगर कहीं इसी बीच बच्चा ठुनक पड़ा तो उसे पुचकारते-बहलाते सरकारी बाग की ओर मुड़ जाती और फिर तो ऐसा लगता कि वह बच्चा ही उसे खींचकर देवी बाबा के दर पर जा पड़ा है। देवी बाबा बाल झाड़ कपड़े सँवार तैयार हैं कहीं बाहर जाने के लिए और वह आ गई एकाएक पौर पर, और बस, एक झिझक से टोपी उतार और छड़ी रख वे बैठ जाते वहीं, कसमस करते।

क्या बातें होतीं उनमें, कौन कहे? जो होने लायक थी, वही रह-रहकर खींच-तानकर थोड़ी देर चलती होगी और जो ज़बान तक उठने की नहीं थी, वह तो कंठ के पड़ोस तक किसी युग में आती नहीं—दिल ही दिल में उठ-उठकर बैठ जाती होगी। यह तो ख़ैरियत थी कि एक बच्चा साथ था दोनों के बीच। उसी के मत्थे बातों का सिलसिला चलता हो तो आश्चर्य नहीं। नहीं तो नीरवता शुरू कर देती दोनों ओर भय का संचार।

जब वह देवीलाल के दालान में आकर एक फटी-सी टाट की टुकड़ी पर सर झुकाए बैठ जाती या कोठरी को झाड़-पोंछकर उनकी बिखरी चीज़ों को क़रीने से लगती सजाने, तो न जाने कितने कान और आँखें उस बैठके के इर्द-गिर्द चक्कर काटतीं। जितनी देर वह उनके बैठके में रहती, उतने समय तक तो उस मकान के ज़र्रे-ज़र्रे पर जैसे एक मधुर रहस्य का आभास खिल उठता। किवाड़ों की फाँक से रूप और ध्वनि की लहर खेलती रहती। कहीं दो-चार शब्द कानों में मीठे पड़ गए, तो बस, काव्य के रस-संचार के लिए काफ़ी मसाला हो जाता। उसके आँसू और मुस्कान की एक-एक बारीकी, उसकी आँखों की पुतलियों की एक-एक कलाबाज़ी—बराबर टाँककर रख ली जाती। उन पर बहस छिड़ती—टीका-टिप्पणियाँ चलतीं। बात-चीत तो शायद किसी की समझ में आती न थी, पर आवाज़ की धुन पर—होठों की फड़कन पर उसके गालों की गुलाली के उतार-चढ़ाव पर—चितवन और मनन का ताँता बँध जाता। किस इशारे से हसरत टपक आई—किस अदा से शोख़ी—किस चेष्टा से लज्जा—किस कटाक्ष से मुहब्बत—किस खिंचाव से गुस्सा—ये तमाम मज़ेदार बातें नमक-मिर्च लगाकर सरे बाज़ार हाथोंहाथ बिकने लगीं। और कुत्सा के चटपटे को चखने के लिए

सैकड़ों के मुँह में पानी आने लगा।

और जब एक दिन देवी बाबा की चारपाई पर एक फूलदार पलँगपोश-सा दीख पड़ा, तो फिर यह खुल्लमखुल्ला ऐलान होने को बाक़ी न रहा कि चादर पर गुलकारी के साथ-साथ वह उनके दिल के पहलू पर भी गुल कतर गई है। कितनों ने कुछ लिख-विखकर दीवालों पर चिपका दिए। कितने मनचलों ने गला फाड़ ठुमरियाँ छेड़ीं—

'राम करे, कहीं नैना न उरझे।'

मगर देवी बाबा अपनी आन पर बराबर डटे रहे। कभी एक मीठी झिड़की—कभी एक मीठी हँसी—उनके चेहरे पर झिलमिल खेलती रही। कहनेवाले तो क्या-क्या कह गए, सुननेवालों ने तो क्या-क्या सुन लिया और इस कही-सुनी पर रंग भरनेवालों ने भी क्या-क्या नहीं भर दिया! पर बात तो असल यह है कि देवी बाबा दिल के उस ज़लज़ले पर तिलमिलाकर भी खड़े ही रह गए, औंधे गिरे नहीं।

वे अक्सर उसकी चर्चा छेड़ कहते—

"अरे भाई, वह औरत नहीं, मर्द है—मर्द! हज़ारों मील दूर एक अनजान विदेश में कोई दूसरी औरत ऐसी मुसीबत में फँसी रहती, तो टें बोल जाती। देखते नहीं, वह किस शान से डटी है!"

कभी पहलू बदलकर उसके नारीत्व का गुण गाते—

"आख़िर तो औरत! आज घर की सुध आई, तो फफककर रो पड़ी बेचारी। उसकी नस-नस में ममता कूट-कूटकर भरी है। और तुम समझ रहे हो कि उसमें शर्म की कमी है? अजी साहब, अपनी निगाहों को ज़रा सीधी रखो! जो नारी के रूप पर लिपटा रह गया, वह उसके भीतर के हुस्न को कहाँ देख पाएगा! उसकी ख़ूबसूरती तो उसके जिस्म में नहीं—उस जिस्म की तह में है। उसकी सेवा में—उसकी ममता में है।"

कहीं कोई मज़ाक भी छेड़ बैठता तो वे कुछ खीझते नहीं; उसे उसी तरह लेते।

उस दिन बाबू नंदकुमार लाल ने फिर छेड़ा—"आख़िर इतनी देर बातें क्या होती होंगी?"

"यों ही, बे-बात की बात। कोई बात है भी, जो हो!"

"फिर भी......"

और देवी बाबा एक मीठी हँसी होठों पर लपेटकर बोले—

"अरे भाई! बातों में तो कोई लुत्फ़ नहीं। जो लुत्फ़ है, वह बातों के लिए किसी हीले की तलाश में। और सब पर बाला...बातों के बीच-बीच वह बातों का भटक जाना—

फिर यों ही बैठे रहना—वह चाह-भरी चुहचुहाती चुपकी! आख़िर जो तह की बात है, वह तो इसी चुपचाप में है—क्यों?"

और वे ठठाकर हँस पड़े—"कहिए, कुछ और सुनाऊँ आपको?"

आख़िर एक दिन उसका बड़ा भाई भूलता-भटकता आ ही पहुँचा। उसने देवीलाल को किस निगाह से देखा—पता नहीं। देवीलाल ने उसे किस निगाह से देखा—पता नहीं। उस औरत ने अपने भाई की इस आमद को किस निगाह से देखा—पता नहीं। हाँ, गाँववालों ने तो देखा कि देवीलाल के सर पर शैतान आया और लगे दोनों की धींगा-मुश्ती का इंतज़ार देखने।

मगर उसने तो न कुछ कहा—न सुना। और कहने-सुनने की गुंजाइश भी तो न थी। वह हमारी ज़बान समझ नहीं पाता। हम उसकी ज़बान समझ नहीं पाते। फिर देवी-लाल के बग़ैर वह कर ही क्या पाता?

देवी बाबा उसके आने से ज़ाहिरा तो खुश ही हुए—भीतर की बात भीतर का भगवान जाने। संभव है, खुश भी हुए हों—रंज भी हुए हों। चेहरे पर तो कोई शिकन नज़र नहीं आई। आई भी तो तब, जब दो दिन बाद वह जाने लगी। ऐसा लगा कि वे अब रोए, तब रोए। इतने

दिनों के परिचय से उतनी भी ममता न होती तो हम उन्हें आदमी नहीं, पत्थर समझते। उस बेचारी के चेहरे पर भी केवल कृतज्ञता ही न थी—साथ छूटने की छाया भी साफ़ थी। आख़िर उतनी भी न होती तो वह नारी नहीं, नारी के रूप में कुछ और होती।

उस दिन देवी बाबा ने जब गीले गले से कहा—"कल तो वह जाती है न भाई!" तो ऐसा लगा कि उनका कलेजा निकला जा रहा है। इतना कह वे चुप तो हो गए, पर मुझे लगा, जैसे कितनी छोटी-मोटी बातों का मर्मर रह-रहकर स्पंदित हो रहा है उनके अंतस्तल में।

तो क्या बंद हो गया उनकी दो घड़ी की दिलचस्पी का वह क्लब—उनके मनमोदकों का वह भांडार!

दो छन बाद गरदन मोड़ अपनी कोठरी में कहते घुस गए—"हाँ, तो उन चीज़ों की फ़िहरिश्त कर वापस कर देना है—फ़ुरसत नहीं।"

और वे घंटों बैठ एक-एक चीज़ क़रीने से तश्तों में सज उसके सराय पर पहुँचाकर जब चिराग़ जलते-जलते लौटे, तो चारपाई पर एक अजब उदासी के आलम में लेट गए। लगे गुनगुनाने—

"आज तो जी न जाने कैसा हो रहा है! पता नहीं, क्या चाहता हूँ—क्या नहीं चाहता!"

मैं जब सामने पड़ा, तो लगे कहने कि 'अंदर न जाने क्या टीस रहा है !'

मैंने हाथ रख कहा—"कुछ तो नहीं, ज़रा तेज़ धड़कन है !"

"नहीं पागल, हिचकियाँ हैं–हिचकियाँ !"

"हिचकियाँ ! हिचकियाँ कैसी ?"

"दिल की—और कैसी ? तमाम उम्र रोते-रोते उसकी हिचकियाँ बँध गई हैं न।"

मैंने उनकी आँखों में आँखें डाल कहा कि आज क्या हो गया है आपको ! फिर एक छन रुककर पूछा—

"तो क्या सचमुच जा रही है ?"

"जाती है तो जाने दो ! जो आता है, वह जाता ही है ! अच्छा ही हुआ, वह इस सूने जीवन में टिकी नहीं। चाहती भी तो टिक नहीं पाती और मैं ही उसे कब टिकने देता ?"

और वे ठठाकर हँस पड़े। चट चारपाई से उठे और दालान में टहलते-टहलते कहने लगे—

"अजब आदमी का मन है यह। पहले तो वह चाहता रहा कि उसका भाई आकर उसे घर ले जाया—और आज जब वह भाई के साथ जा रही है, तो लगता है कि उसे क्यों जाने दिया। वह न जाती, तो यह रंग कि वह

गई नहीं ! वह जाने लगी, तो यह रंग कि वह चली जा रही है ! किसी हालत में कल नहीं ।"

"तो क्या कोई उलझन है देवी बाबा ?"—मैंने उनकी आँखों में आँखें डाल पूछा ।

और वे तड़पकर सामने आ गए—"दुत् ! ऐसा भी क्या है ? अरे भाई, यह चुलबुला दिल कभी कुछ समझता रहा—कभी नहीं समझता रहा—जैसा शैतान है यह ! मैं तो बराबर समझता रहा कि वह कौन है और मैं क्या हूँ। फिर भी आपस की निगाहों के पुल पर कभी भटककर उसने क़दम रख ही दिया हो, तो आख़िर दिल ही तो है । समझ उसका कान थाम वापस न ले जाती, तो हम मान लें कि वह नादान बीच की उस खाई को भूल पार जाने के लिए मचलता भी ।·······नहीं-नहीं, वह निरी दिलचस्पी रही—कुछ दिल की लगी नहीं । इस सूनेपन में कुछ सेवा का—कुछ दिलबहलाव का—एक हीला हो गया न ! हाँ, माया भी ज़रा-सी हो आई ज़रूर । उसकी वजह तो है न ? मैंने उसकी आँखों में उमा की आँखों की झलक देखी । जब किसी में उस अदा को पाता हूँ तो वह चट याद हो आती है ।"

देवी बाबा जब सुबह उसे गाँव के बाहर इक्के पर सवार करा घर लौटे, तो सर झुकाए चटपट अपनी कोठरी

में दाखिल हो गए। मैंने उस वक्त तो उनको देखा नहीं, देखा शाम की गुलाबी बेला में—वह भी उस कोठरी में नहीं, पास की फुलवारी की फूलों से लदी एक झाड़ी में।

बरगद की फुनगी पर दो नीले-पीले पियल्ले फुदक रहे थे और देवी बाबा जैसे सारी दुनिया को भूल एकटक उन मस्तानी रँगरलियों को देख रहे थे।

मैंने उनके कंधे पर हाथ रख पूछा—

"क्या देख रहे हैं एकटक ?"

"कुछ तो नहीं !"—वे ज़रा चौंक-से उठे।

"वाह ! मुझे तो ऐसा लगा कि किवी को एकटक देख रहे हैं।"

"किसी और को नहीं जी ! अपने को ही देख रहा हूँ।"

"भला, ऐसे कोई देखता है ?"

"देखता है ! जिसे दुनिया में कुछ और देखना नहीं है, वह यों ही सपने देखता है।"

"सपने ?"

"हाँ,—मीठे सपने, सलोने सपने। जानते हो न भैया, चालीस के बाद इस ज़िंदगी से चाँदनी उतार पर आती है और पचास पार होते-होते अँधेरे में गुम हो जाती है। पर मेरे सर से तो वह बीस ही पर गुज़र गई। बस,

बच गए सपने !"

फिर एक छन चुप रहकर बोले—

"सोचता हूँ, इन सपनों को गूँथ-गूँथकर रख जाता !"

"अच्छा !"

"अरे भाई, मेरी पीड़ा की ज़बान इनमें रूह फूँक देगी, ताकि मेरे बाद भी यह यादगार बनी रहे। शाम का सुर होता है बड़ा मीठा। बस, इसे मेरे जीवन का शामकल्यान समझो ! ग़नीमत है, अभी मेरी आहों में सुर बाक़ी है। जब कुछ दिनों में वह बेसुरी हो जायँगी तो फिर टूटे तारों पर कोई राग उठ सकेगा !"

और उसी दिन से देवी बाबा लगे गूँथने। कहते तो वे पहले भी थे—जब मौज आई, कुछ कह बैठे। किसी चिट-पुर्जे पर टेढ़े-मेढ़े टाँककर कुछ सुना दिया—'अजी वाह ! क्या कही आपने !'—की सदा कानों में आई, फिर परवा नहीं कि उस पुर्जे का क्या अंजाम रहा। किसी ने रख लिया, तो अच्छा; वरना कभी कोई फ़िक्र नहीं।

उठती जवानी में भी कुछ गज़लें कही थीं उन्होंने। उमा के रंग में जब आए थे, तब तबीयत की रंगीनी ज़बान पर भी रंग भरने लगी थी। मगर जब शादी के बाद एकाएक सर पर बिजली कौंधकर गिरी, तो वह शायरी भी दिल के साथ दफ़न ;हो गई। उन गज़लों को भी साथ-

साथ उसकी चिता पर रख दिया। हाँ, दो-चार शेर जो स्मृति-पटल पर अंकित रह गए, उन्हें वे कभी किसी तड़प पर सुना बैठते। और सोचते—क्यों बेकार जला दिए!

दूसरे दिन हमने देखा कि सबसे अलग बैठ कागज़ के एक बंद पर काँपती उँगलियों से वे कुछ लिख रहे हैं। मास्टर साहब जब सिर हो गए, तो वे सुनाने को सहमत हुए। दो-चार शेर सुना पाए होंगे कि मास्टर साहब ने बड़े उल्लास से उछलकर कहा—

"अजी वाह! कमाल किया है आपने!"

देवी बाबा न जाने क्यों रुक गए। लगे हमको ग़ौर से देखने। बोले—

"यह 'वाह!' की भी एक ही रही! कमाल कहकर आपने मेरे दर्द की रविश की अच्छी खिल्ली उड़ाई!··अजी जनाब, यह दिल की लगी है—कुछ मौज की शायरी नहीं। मैंने अपने आँसुओं में स्वर भरा था, कुछ दुनिया से दाद पाने के लिए नहीं। तो क्या मेरी 'आह' आपलोगों की सस्ती 'वाह' के लिए बन-बनकर निकल रही है?"

और उन्होंने चट उस बंद को टूक-टूककर फेंक दिया। हमलोग तो सकते में आ गए। कहाँ-से-कहाँ सुनने गए

आख़िर उन्हें किसी कापी पर लिख रखने की मिन्नतें

कीं। हमने तै कर लिया कि अब कभी कुछ सुनाने के लिए उनको छेड़ना मुनासिब नहीं। आदमी हैं झक्की। कब कैसा मन का दौर रहे—पता नहीं। ख़ैरियत थी, हमारी बात उनके दिल में घर कर गई।

और उनकी यह नई वहशत कुछ क़रीने से उठी। बाज़ाब्ता कापी बना डाली। एक कामचलाऊ जिल्द भी बँधवा ली। पूरे रंग में आ गए। जब देखिए, कुछ गोद रहे हैं। मजे में लिख तो पाते न थे। हाथ की थरथरी की वजह उँगलियाँ काँपती रहीं। बस, टेढ़ी-मेढ़ी लकीरें—कुछ निशानियाँ—दे पाते। पर पढ़ने के वक्त फर्राटे-से पढ़ लेते।

बस, दिन पर दिन—माह पर माह—साल पर साल—यह ख़ब्त बराबर बनी रही। उसी धुन में धुन-से गए। सुबह तालाब पर धोती कचार रहे हैं—दोपहर में खा-पीकर चारपाई पर लेटे हैं—शाम को बाग़ में टहल रहे हैं—और कुछ सोच रहे हैं और मुस्कुरा रहे हैं, भवें तान रहे हैं, गुनगुना रहे हैं।

मैं जब छुट्टियों में घर लौटता, तो देखता कि देवी बाबा उसी नशे में झूम रहे हैं। शरीर छीज चुका है, सिर के बाल खिचड़ी हो रहे हैं और कमर झुक चली है। कहीं आना-जाना नहीं। किसी से लाव-लपट नहीं। सुबह मंदिर का तालाब—शाम को डोमा का बाग़, या हम रहे तो

एकाध घड़ी बँगले की सैर ; वरना वही दालान, वही चारपाई और वही कापी। हम खुश थे। एक अच्छी लगन तो लगी बकौल देवी बाबा, हमें जीते-जी किसी पर मरना ज़रूरी है, वरना यह ज़िंदगी भी मौत हो जाती है।

उनकी ज़बान की चुटकी गज़ब थी। वह बोलती नहीं, बल्कि गाती रही और जब गाते हुए ओज पर आती, तो सुननेवालों के दिल पर मौज पैदा कर देती। बात भी करते तो ऐसी कि कोई मुहँ चूम ले जी चाहता कि वे कहते रहें और हम सुनते रहें। उनको उस अंदाज़ पर नाज़ भी था। भगवान ने उनकी ज़बान को वह खूबी अता की थी कि काश सरे बाज़ार आती, तो दिलवालों की दुनिया उसे मोती की लरी की तरह गले में डालती।

वैसे सलीक़े भी अब देखने को नहीं मिलते। उनकी बात उनके साथ गई। वह तौर है, न वह तमीज़। जाने दुनिया किधर मुड़ गई। जिसने उस तहज़ीब की सुराही की एक बूँद भी चख ली होगी, उसे पच्छिम की बोतलों में आई हुई आज की नशीली न्यामतों की रविश क्या ख़ाक रुचेगी!

देवी बाबा किसी को अपनी कापी दिखाते न थे। कहाँ वह ज़माना था कि जो कुछ लिखते, उसे फाड़ डाला या फेंक डाला। कहाँ आज यह ममता कि किसी को कापी

छूने तक न दें। डर बना रहे कि वे उसे कहीं खो न दें। एकबारगी चिपट गए उससे। बड़े हिसाब से उसे अपनी छोटी-सी काठ की संदूकची में रखते। और उस पर बराबर एक आँख रखते। हम भी उस दिन की घटना के बाद कसम खा चुके थे कि उनकी कापी के पड़ोस से अलग ही रहना उनके कलाम के चिरजीवन के लिए शुभ-कामना होगी।

हरशंकर चचा जब एक दिन उनकी कापी हाथ में उठा लगे उलट-पुलटकर देखने, तो देवी बाबा कुछ ऐसे विच-लित हुए, गोया कोई उनके कलेजे में हाथ डाल टटोल रहा हो।

"वाह! यह बैठे-बिठाए क्या रँगे जा रहे हैं आप? कुछ सुनाइए न!"

"अरे भाई! यह मेरे दिल के टुकड़े हैं, जो दर्द के गीत बन-बनकर ज़बान से उतर रहे हैं। वह आँसू बनकर टपक जाते रहे, तो कहीं के न थे। मैंने सोचा कि इन्हें कागज़ पर उतार रखता जाऊँ कि शायद कभी किसी के ज़ख़्म पर ठंढक ला सकें। यह दिल का दर्द, यह दर्द का राग—मेरे साथ बेकार ही मिट जाता। ऐसे तो हमारी तरह किसी दुखिया के काम भी आ सकता है। और भाई, इस ज़िंदगी में आख़िर कोई धुन तो चाहिए। इन सलोने सपनों

को कलम की नोक से पिरो-पिरोकर रखने में भी एक ख़ास मज़ा है। जब दुनिया कभी किसी दिन देख पाएगी तो शायद मेरी याद में दो आँसू तो गिराएगी। जीते-जी तो वह बराबर फटकी रही, मरने पर तो एक पल साथ देगी। बस, इसी उम्मीद पर दिल गला रहा हूँ भाई जान! और....और...ख़ैर, आपसे भी कहे जाता हूँ—बस! उमा की याद में आँसुओं का यह ताजमहल रखे जाता हूँ—याद रखिएगा!"

× × ×

देवी बाबा ने अपना तख़ल्लुस रखा था—'आँसू'। आँसू आँखों में उठा नहीं कि टप-से गिरा। वह भी उठे थे आँसू ही की तरह बौखलाते, पर उठे नहीं कि चू गए। उनकी ज़िंदगी की मिसाल आँसू है। संभव है, उस नाम का रहस्य यही हो।

हम तो उनका 'ताज' कभी छूते न थे। बस, कभी कुछ सुन लिया—कुछ समझा, कुछ नहीं समझा। हाँ, हरशंकर चचा जो ख़ुद भी कुछ कह लेते थे—कहा करते कि देवी बाबा की ग़ज़लें मोती के दाने न भी हों, आँसू के दाने तो ज़रूर हैं। वह हर किसी को सुनाते भी न थे। जब जी में आया, एकाध शेर कह दिया, बस!

मुझे याद है, मेरी शादी के वक्त उन्होंने एक सेहरा कहा था। वह ज़माने तक मेरे पास था। अब तलाशता हूँ, तो हाथ मलकर रह जाने के सिवा कुछ हाथ नहीं लगता।

किसी के दिन बराबर नहीं जाते। कब क्या से क्या हो जाता है, कौन कहे! आदमी सोचता है कुछ और, और एक दिन होकर रहता है कुछ और। बरसात में आग बरस जाती है और गर्मी में ओले। शायद यही रहस्य तो इस जीवन का चरम रहस्य है। और यों ही आदमी बहता रहता है समय के प्रवाह पर—कुछ प्रवाह के बल, कुछ अपने हाथ के बल।

भीगती मसों की ऊँची उफानों के तले कॉलेज की अवास्तव आबोहवा में बैठ मैंने भी इस जीवन की सफलता के लिए कुछ मनचीते सपने पाल रखे थे। मुझे क्या पता था कि विधाता मुख पर रूमाल रखकर चुपके-चुपके हँस रहा है। जी हाँ, जीवन की जंग से दूर दर्शन और साहित्य की छान-बीन होगी न! अजी वाह, क्या तसवीर उतारी है आपने! और भी भरिए नए-नए रंग, नई-नई उमंग!

इधर मेरी अनुपस्थिति में बिछ चुकी थी कुछ और ही शतरंज। एम० ए० का इम्तहान देकर जब वापस आया तो यहाँ का रंग बिलकुल बदला नज़र आया। यह रंग तो उस रंग का एक छींटा था, जो मेरे पिता की मृत्यु के बाद जाने कहाँ उड़ गया था। मैं ज़रा सहमा, चौंका। हैं, यह माजरा क्या है! जो अब तक आँखें बचाकर निकल जाते रहे, वे अब लगे हैं राह चलते आँखें बिछाने! और तो और, जो बराबर साथ उठते-बैठते रहे, वे भी दो हाथ अलग सरकने लगे हैं अदब से घुटने मोड़ने। यह तमीज़! उस स्नेह की जगह यह आदर क्यों!

बचपन के हमजोलियों के बीच एक दीवार कहाँ से आ गई? उसे फाँद हम न उस पार जा पाते हैं, न वे ही टपकर इस पार आ सकते हैं। देखता क्या हूँ, जो नज़दीक थे, वे तो दूर होने लगे हैं और जो दूर थे, वे पास आने की फ़िक्र में हैं। साथियों के साथ न रही वह फुर्ती, न रही वह बेतकल्लुफ़ी।

और मुझे लगा, ज्यों-ज्यों लोग मुझे घेर रहे हैं, त्यों-त्यों मैं अकेला पड़ रहा हूँ। वैसे तो सब अपने ही नज़र आते हैं, फिर भी क्यों यह लगता है कि आज कौन अपना है! दिन-रात सब साथ ही हैं, फिर वह आपस का साथ कहाँ गुम हो गया! मुझे ठेलकर जिस ऊँचे आसन

पर बैठाने की बंदिश नज़र आई, उस उँचाई से मेरा जी गिर गया।

कि दूसरे दिन कोर्ट के मैनेजर ने आकर कहा कि "लीजिए, मैं चला! अब सँभालिए अपना बोझ। हाँ, कोई फ़िक्र नहीं। रियासत पर जो बादल छाए थे, वे बहुत कुछ छँट चुके हैं।"

और बस, एक ही फूँक में वह तमाम हवाई महल गिरकर ढेर हो गया। उड़ गए सपने—टूट गए खिलौने। मेरा रोआँ-रोआँ जान गया कि मैं मँझधार में आ पड़ा।

मैं अपने दिल की मरज़ी के खिलाफ़ इस कूचे में आने पर तैयार न था। मगर चारा? देवी बाबा से कहा भी—

"मैंने तो अपने लिए कुछ और ही सोच रखा था। यह काम तो मुझसे होने का नहीं।"

"अच्छा कह रहे हो! मैदान से मुँह मोड़ना! तुम्हें भी अर्जुन की तरह मोह हो गया है क्या?......"

"यह लकीर की फक़ीरी तो मुझसे होने की नहीं!"

"अजी, लकीर की फ़क़ीरी की ऐसी-तैसी! ड्यूटी की पाबंदी काफ़ी है—दिल की पाबंदी तो ज़रूरी नहीं।"

और वे कह गए अपने तर्ज़ पर कर्त्तव्य की अनासक्त चेष्टा!

यह खूब! ज़मींदारी का कूचा और निष्काम कर्म की भावना!

आज जब सोचता हूँ तो कुछ तय नहीं कर पाता कि मेरा रास्ता किधर था। कभी तो लगता है कि मैं भटक पड़ा हूँ। फिर देखता हूँ कि दिल का तक़ाज़ा जो हो, उस घड़ी कर्त्तव्य का तक़ाज़ा तो दूसरा न था। आख़िर देवी बाबा कुछ ऐसे-वैसे तो थे नहीं कि मुझे मार्ग से भटकाते।

दूसरे दिन देवी बाबा ने बड़े तपाक से सर हिलाकर कहा—"समझे भैया! यह काजर की कोठरी है न! ज़रा देखकर चलना!"

मैंने कहा—"तो फिर ऐसी कोठरी में जाने की ज़रूरत ही क्या है?"

"नहीं जाने का सवाल कहाँ है? जैसे कि तुम कभी इसके बाहर थे! हाँ, यह ख्याल रहे कि धन रहने से आदमी बड़ा तो कहलाता है, पर वह बड़ा हो नहीं पाता—अक्सर लगता है छोटा होने।"

"सो कैसे देवी बाबा?"

"अपने बड़प्पन की शान में। धन आया कि मिज़ाज बढ़ा—खटराग फैला। लगे लोग उसे तरह देने और लगा वह कहने-सुनने में आने। तुमने योगी बाबा का नाम सुना है न—वही जो मैनपुरी मठ के महंथ हैं! जब तक महंथी न थी, वे पक्के फ़क़ीर थे—बेलौस। कभी किसी से लाव-लपट नहीं। उनको महंथी की गद्दी क्या मिली, बेचारे

की मिट्टी-पलीद होकर रही। कुछ दिन तक तो बेचारे मन को मुट्ठी में दाबे रहे, पर जब लगे लोग चारों तरफ़ से उनकी आरती उतारने—मोहरों की डाली चढ़ाने—तो फिर कुछ न पूछिए! उड़ गया सब विराग—त्याग! आज तो वे कहीं के नहीं हैं। बस, नाम के हैं विरागी। मगर वह राग-रंग है कि भई, वाह!"

"मगर देवी बाबा, वे चाहते तो अपने को अलग नहीं रख पाते?"

"खेल है अलग रखना! कहीं महफ़िल की चकल्लस में किसी को संन्यास सूझता है! आदमी की खाल में जो जानवर बैठा है, वह उस आबोहवा में कब तक दम रोक रखेगा? और एक बार उसके डाढ़ों में लहू लगा तो फिर..."

"तो क्या कोई भी उस जमात में ऐसा नहीं है, जो उसे दिल से चाहता हो—सच्ची सलाह दे?"

"यह ख़ूब! अमीर को कभी कोई दिल देता है? उसे ख़ुदा मिले तो मिले, आशना नहीं मिलता। उसे ख़ुशामदी ज़बान की चाशनी तो मिलती है, किसी दर्द-शरीक की हमदर्दी नहीं।"

और देवी बाबा बहुत कुछ कह गए—बहुत कुछ समझा गए। उस दिन तो मैंने कुछ समझा नहीं—

उस दिन तो कुछ सोचा नहीं, पर आज, राम कहिए, मैं ही जानता हूँ कि क्या गुज़रती है दिल पर! उनकी एक-एक बात नक्श है—नक्श!

बस, क्या देखता हूँ, चारों ओर इच्छाओं की इच्छाओं से जंग—रात और दिन, दिन और रात। कब किसी की लालसा किसी और की लालसा से टकराए बग़ैर बे-लौस रह पाती है! मगर हाँ, कोई मालदार ठहरा तो यह मतलबी दुनिया एक हद तक उसकी मनमानियों को प्रश्रय देती चलती है। यह प्रश्रय ही तो उसकी आस्तीन का साँप है। ग़रीब को रस का चसका लगा तो उसकी थू-थू होकर रही। अमीर की रसविलासिता उसकी शौक़ीनी—उसकी ललित कलाओं की क़द्रदानी—में शुमार है। "सुभानल्लाह! क्या तबीयत पाई है हुज़ूर ने!"—यों कहकर उसकी पीठ ठोंक दी। अजब है यह दुनिया! उधर तो आँख दिखाती है, इधर आँख मूँद लेती है! ऐसे वायुमंडल में उसकी मज्जागत पशुता के लोलुप होने की संभावना कुछ साधारण है? यहाँ आठों पहर उसकी ख़ुदी की तरक्की नहीं होगी तो कहाँ होगी! इस रईसी में उसे जितनी सुविधाएँ हैं, उससे कहीं ज्यादा ख़तरे हैं। सैकड़ों मुँह से 'सरकार-सरकार' सुनते-सुनते वह लगता है अपने को कुछ लगाने। वह कुछ हो या न हो,

लेकिन वह समझने लगता है कि वह भी कुछ है। उसे बराबर चाहिए बहुत कुछ—यह और वह। यह बहुत कुछ ज़रूरी न होते हुए भी, कुछ रूढ़ियों की वजह और कुछ आदतों की वजह बन गए हैं उसके लिए निहायत ज़रूरी। बग़ैर उनके न चैन है, न जीवन की परिपूर्णता। यों ही लहरों-सी उपटती रहती है नई-नई माँग—नई-नई दिलचस्पी की तलाश। बना रहता है अभाव, जलती रहती है छाती की भट्ठी।

हाय रे मानव, तेरे मन की अमिट प्यास! कितनी प्रबल है तेरी आकांक्षा—कितनी दुर्बल है तेरी क्षमता! वह विशाल, यह पामाल। हो तो क्या हो! बस, रह जाती है इस ढुलमुल मन की मौज आवेश के एक-एक स्पंदन पर उठ-उठकर पछाड़ खाती।

यह नहीं कि वह एक छन के लिए भी सुखी है। धनी होना और है, सुखी होना और। सुखी तो एक हद तक वही हो सका है, जो आठों पहर औरों को सुखी करने में जी-जान से लगा है। दुनिया के सुख-दुख से अलग जिसे बराबर अपने ही सुख की तलाश है, वह कब सुखी हो सका है और कब होगा! कहीं नए-नए ढंग से शरीर सजने से और विलासप्रिय होने से कोई सुखी हो सकेगा? बिजली के पंखे से दिमाग ठंडा नहीं होता, हवा ठंडी लगती है।

पसीने से जो रोटी रोशनी होती है, उसकी मिठास को अमीर के दस्तरख़ान का शीरमाल कहाँ तक पाएगा !

और वह रह जाता है बराबर अपरिचित—अनजान—सुदूर। उसकी चमक-दमक की रंगीनियों के भीतर कब किसी को पता चल पाता है कि वह भी सुख-दुख में चूर, आशा और निराशा में डावाँडोल, एक साधारण मनुष्य के सिवा और कुछ भी नहीं है। शायद औरों से कुछ ज़्यादा ही चूर है, और संभव है, औरों से वह कुछ ज़्यादा ही मज़बूर है। पर हाय री उसके हीरे-मोती की धाँधली! दुनिया की निगाह तो उसके सर की कलँगी पर ही टकराकर रह जाती है—उसकी अनुभूति की दरीची तक तो उतर नहीं पाती! वह अपना दिल चीरकर दिखाए तो किसे दिखाए! अपना दुखड़ा रोए तो कहाँ रोए! कोई तो उसकी अमारत से अलग उसे देखने को तैयार नहीं। और कोई समझे तो कैसे समझे कि वह इस चामचूम में बराबर नहीं है। वह दिखता है इसमें सही, पर एड़ी से चोटी तक है नहीं इसमें। किसी के हाथ की दौड़ तो उसकी जेब तक है, उसके हृदय तक नहीं।

और बस, वह धीरे-धीरे हो जाता है कठोर। उसके इर्द-गिर्द कोई मरे या जिए, वह अपनी मौज में मगन है। उसके पड़ोस के कितने घरों के चूल्हे ठंढे पड़े हैं तो क्या, वह तो

दस दोस्तों के साथ गरम-गरम पोलाव और मुर्तजन खा भी लेता है और पचा भी डालता है। काश, किसी ठेस पर अनुभूति ने अँगड़ाई भी ली तो बचपन से आरामतलबी के शिकंजों में ऐसा कसा है कि विचार रखकर भी वह कुछ कर नहीं पाता—रह जाता है हाथ पर हाथ रखे।

उसकी दलील है कि वह तो अपना खाता-पीता है, किसी और के घर सेंध देकर कुछ बटोरता नहीं। यह दलील कहाँ तक तथ्य रखती है, मैं इसे नहीं टटोलता। मुझे इसी क़दर खलता है कि हमारे इर्द-गिर्द हाहाकार मचा है तो हमारे आँगन में तबले की थाप पर घुँघरू की झनकार साफ़-साफ़ ऐलान करती है कि हमारी अनुभूतियों की निगाह पर लगी है चर्बी छाने। बुद्धि इसे स्वीकार करे या न करे, पर किस सहृदय का हृदय बेलौस बच पाया है?

× × × ×

वह जो किसी ने कहा है न कि 'सर मुँड़ाते ओले पड़े'—वही हाल हुआ। इधर बागडोर हाथ में आई, उधर घोड़ों ने पुश्ता फेंका।

बैठे-बिठाए देवी बाबा फिर बदनाम होने पर आए। वह क़िस्सा यों है—

हमारे यहाँ मंदिरों के उत्सव की बड़ी धाक थी। वैसा ही शोर था। वह भीड़ कि मेला मात! देहात टूटकर आता।

इस लोकप्रियता की एक ख़ास वजह थी। जाने कब से इन जलसों की तह में पेशवाज़ और घुँघरू की रसाई हो गई थी!

रामनवमी और जन्माष्टमी। जन्म के दिन से जो राग-रंग का सिलसिला चलता, वह छुट्टी तक आते-आते आसमान चूम लेता। देवी बाबा तो बराबर कहा करते कि यह तो लगता है कि मंदिरों को भी ज़माने का रुख़ देखकर अपनी दूकान चालू रखने के लिए कुछ रूप और रस की हिलोरें, कुछ पायलों की छम-छम इश्तिहार की तौर पर इज़हार करते रहना ज़रूरी है—वरना देवालयों का भी दिवाला पिट जाय! आज यह वक़्त आ गया कि भक्ति की उद्दीपना के लिए कुछ रसीली रुनझुन और ताथेई भी अनिवार्य हो गई है।

चौड़े दालान के बीचोबीच गंगा-जमनी सिंहासन। नयनाभिराम मूर्त्ति। छत्र और चँवर। इर्द-गिर्द गुलाब और गंगाजल—मोहनभोग और मालपूए। दाहिनी ओर पंडितों का काफ़िला, बाईं ओर बाबू-भैये! दोनों बाज़ू पर चोबदार और चँवरबरदार। जो है वह अपनी जगह पर है—जो है वह अपनी दरबारी लिबास में है। कभी पान की गिलौरियाँ दौर पर हैं, कभी बादाम और पिश्ते की छालियाँ!

जो आता है वह सिंहासन के सामने सर झुकाता है और बैठ जाता है घुटने मोड़कर। मुँह तो मीठा करता ही

है—रस की बौछार है वहाँ—आँखें भी सेंकता है, मीठे तरानों का भी मज़ा लेता है। रूप और स्वर, रस और गंध। बनारस की तायफ़ें, लखनऊ के भाँड़। निगाहों की जादूनज़री। अलबेले आँचलों की लीला-लहरी। सूर के भजन। दाग़ की गज़ल। रामायण की चौपाइयाँ। इशारे की छेड़खानियाँ। शांत और शृंगार। भक्ति और आसक्ति। राम और काम। भगवान और शैतान।

कोरट के ज़माने में उत्सव का यह सिलसिला एक हलके-से पैमाने पर रहा। रूप-रेखा वही थी। बनारसी नहीं तो निरी देहाती भी न थी।

अब रियासत के हितैषियों की यह ज़िद कि अब कोई वजह नहीं कि मंदिरों के उत्सव में कमी की जाय। भगवान ने जब दिन दिखाए तो भगवान की सेवा में कमी क्यों हो! इधर देवी बाबा की यह ख़ब्ती कि कोई वजह नहीं कि मंदिरों के उत्सव में भाँड़ों के भँड़ौवे और तायफ़ों के तानों को जगह दी जाय। भगवान ने जब दिन दिखाए तो भगवान की सेवा में ऐसी कमअक़्ली क्यों हो!

बात लगी बढ़ने। खड़ा हो गया एक तुमुल धर्म-संकट! पुजारियों और दरबारियों का एक गुट। कोई तैयार नहीं कि परंपरा की एक कड़ी भी टूटे। चलने लगे ताने-उलाहने। आज तो उत्सव ही पर नज़र है, कल यह भी होगा कि भोग-

राग तक बंद कर दिया जाय। कहीं सरकार होते तो मुंशीजी की एक भी चल पाती! शिव-शिव! ऐसा जुल्म! यह अत्याचार! भगवान का अपमान!

देवी बाबा ने यह प्रतिवाद किया कि मैंने यह कब कहा कि उत्सव ही बंद कर दिया जाय? आप गवैयों को रखकर भजन क्यों नहीं सुनते?

बस, लोग ठठाकर हँस पड़े—"क्या खूब! गाना और गवैयों का! कहीं सुना है आपने कि देवताओं के दरबार में गवैये थे! भूल गए रंभा और मेनका को?.......बस, हो चुका उत्सव का लुत्फ़! कोई मंदिरों में झाँकने तक न जायगा।"

"तो आपकी तमाम भक्ति का चश्मा उन सुरमई निगाहों की कोर में है? अरे भाई, तो फिर साफ़ कहते क्यों नहीं कि हमें मलका-जान का नाच चाहिए—नाच! यों तो नसीब नहीं, बस चलो देवताओं के मत्थे। वे ग़रीब तो एतराज़ करने से रहे—उनके सामने भाँड़ों के भँड़ौवे पेश करो तो, ब्रज-लीला खेलो तो! मगर भला, सोचो तो सही, कहीं कोई मसजिद में बैठकर शराब पीता है!

"जब लालसाओं को खुल खेलने के लिए किसी मर्यादा की छत्रछाया में एक सुरक्षित क्षेत्र मिल गया तो फिर किसी झेंप और पशोपेश की गुंजाइश ही न रही;

जब भगवान ही शिखंडी हैं तो फिर कामना छूटकर मैदान क्यों न लेगी ?

"हम वासना को उपासना के आसन पर बिठाकर अपनी तमाम वृत्तियाँ उसकी सेवा में खटाते हैं। पर इससे भी वासना कहीं उपासना की महिमा पा सकती है ?"

पुजारियों का दल एकबारगी बौखला पड़ा। चीख़ उठी उनकी कुचली लालसा—तमक उठा उनका खड्गहस्त स्वार्थ।

"मुंशीजी को तो कोई है, न होगा। जैसी आज तक उनकी श्रद्धा रही, वैसी ही उनकी गति भी हो रही है। अब उठे हैं अपनी ही तरह औरों को भी ठूँठ बनाकर धर देने—न फूल, न फल। जब देवबल ही न रहा तो फिर कोई ख़ाक पनप पाएगा !"

"यह अच्छी रही ! मंदिरों में नवचों के नाच से देवबल की तरक्की होगी ?"

"तो आज तक कैसे रही ?"

"इसके बावजूद रही साहब !......बस, समझ लीजिए कि ढाई-तीन हज़ार रुपए की बचत होती है। हम इसी रुपए से स्कूल या अस्पताल की तरक्की क्यों न करें ?"

"स्कूल या अस्पताल की ? इसीसे भगवान की सेवा होगी ?"

"बेशक ! अगर होगी तो इसीसे होगी ! आख़िर उसकी सेवा और है क्या ?"

हम चुप बैठे रहे। सुनते रहे दोनों दल की दलीलें। कभी रियासत का रुतबा, कभी परंपरा का तक़ाजा, कभी देवताओं की अवहेला, कभी किसी अमंगल की आशंका—ऐसी कितनी युक्तियाँ नमक-मिर्च लगाकर पेश होती रहीं। और मुंशीजी उनके ताने-बाने में अपनी पैनी उँगली घुसेड़ चीर-फाड़कर धर देते रहे।

देवी बाबा के विरोधियों में कुछ ऐसे बड़े-बूढ़े भी थे, जो इस प्रस्ताव पर आश्चर्य-चकित हो रहे, उनके धर्म की भावना पर चोट-सी आई और शायद किसी अप्रिय आशंका से भीतर-ही-भीतर वे काँप भी उठे। उनके साथ किसी भोग-लालसा का सवाल बिलकुल नहीं था। मंदिरों में किसी तरह की अश्लील चेष्टा के वे हिमायती भी न थे। पर हाँ, काश कोई उनसे यह पूछ बैठता कि "भाई साहब, आप जब लाखों छोटे-मोटे हिंदुओं को मंदिरों के चौखट पर झाँकने तक नहीं देते—ऐसी है आपकी छूत-छात की पाबंदी—तो यह देवता के चरण के साये में बीबी जान की ताथेई और मियाँ भाँड़ों की भँड़ैती कैसी ?" तो बहुत संभव है कि वे कान ही खड़े कर नहीं रह जाते—आँखें भी फाड़ते, नाक-भौं भी सिकोड़ लेते। बचपन से जिस व्यवस्था को वे अपने

बाप-दादे के साथ बैठ देख-सुन आए, वह किसी नैतिक दृष्टि की कसौटी पर निंदनीय ठहर सकती—यह बात उनके दिल और दिमाग़ के परे की चीज़ थी। उनके साथ था सरल विश्वास—जिस आदर्श के साये में पलकर जवान हुए, उसमें अंधश्रद्धा।

पीढ़ियों से जो परंपरा चली आई है, वह प्रिय ही नहीं, शिव भी है, सत्य तो है ही—यही है हमारी सहज भावना।

यही वजह है कि दुनिया के तमाम पंथों में धर्म का नक़ाब पहन अधर्म मूँछों पर ताव देता हुआ सभ्य बना फिरता है। मजाल है कि कोई उस पर एक उँगली भी उठा सके! शक्ति का जो उपासक है, उसकी निगाह में न बलिदान खलता है, न मदिरा-पान। वह उन्हें देवी का प्रसाद समझ किस भक्ति और श्रद्धा से सर और आँखों पर रखता है! पूजा की वेदी पर सैकड़ों खस्सी कटते हैं, मासूम के लहू से तमाम प्रांगण लहू-लुहान है—पर किसी के कानों पर जूँ भी नहीं रेंगती। ऐसी है धर्म की धाँधली—ऐसी है रूढ़ियों की गुलामी! खूंरेज़ी भी बन गई मज़हब की एक पाबंदी! तो फिर मंदिरों में कामना की किलोलों की छुंद-लहरी चली तो क्या! किसी ठुमकती कंचनी की बंकिम कमर की किंकिणी बजी तो क्या!

जब 'यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमंते तत्र देवताः !' के नारे बुलंद करनेवाले बिललाती नारी का झोंटा थाम उसे चिता की दहकती आग में निःसंकोच झोंक देते रहे तो उनके चेहरे की एक-एक शिरा से बिच्छुरित होती रही धर्म की प्रज्वलित दीप्ति। और इसी सतीमाहात्म्य की बुलंदी का सर पर तुर्रा बाँध हम किस शान से दुनिया के सामने इठलाते फिरते रहे! कोई दिखाए तो ऐसी आदर्श भक्ति! जब हिंद महासागर के उस पार से आए हुए म्लेच्छों ने इस पवित्र विधान पर हस्तक्षेप शुरू किया तो हमने धर्म की दुहाई देकर वह आकाश फाड़ा कि दुनिया आ गई सकते में।

मगर आज! हमारे गौरव का वह चिरस्मरणीय अध्याय!—चिरस्मरणीय या विस्मरणीय? कहे तो कोई अपने कलेजे पर हाथ रखकर!

बात तो असल यह है कि जिस रंग में हम रँग आए हैं—बला से वह किसी को काला ही क्यों न दिखे—उस पर नया रंग चढ़ाने का दावा कोई रखता है तो उसे हम जहन्नमी नहीं तो सिड़ी तो ज़रूर समझते हैं। हम अपना चेहरा अपनी आँखों से तो देख नहीं पाते और दूसरों की आँखों से देखना हमें स्वीकार नहीं। कुछ ऐसी है इस मन की जड़ता कि यदि कोई हमारी मज्जागत धारणाओं

को उलट-पुलटकर धर देने के लिए दलीलें पेश करता है—वह हज़ार युक्तिसंगत क्यों न हो—हम ऐसे को दिल के पड़ोस में जगह नहीं दे पाते। उसे हम टेढ़ी नज़रों से देखते हैं। धर्म और समाज का दुश्मन समझ लगते हैं उस पर कीचड़ उछालने।

किसी उच्च प्रेरणा या प्रतिभा के हाथों एक नवीन आदर्श का अनुशीलन कभी निरापद नहीं होता। वह नव-जीवन का स्पंदन नहीं दिखता—दिखता है एक सत्या-नाशी विप्लव। सनातन के विरुद्ध खड़ा होना ही आघात पर आघात वरण करना है। वर्त्तमान के हाथ से वह पाता है कलंक—भविष्य के हाथ से तिलक।

देहात का बच्चा-बच्चा इन उत्सवों का शैदा था। उस दिलफ़रेब जशन के सामने कीर्त्तन और भजन का कोई वज़न न था। आख़िर इन उत्सवों के हीले न होते तो कब किसी को इस बीहड़ देहात में ऐसी नायाब न्यामतें मयस्सर होतीं! लोग तो इसी आसरे पर कोरट का ज़माना काट आए कि 'ऐहैं बहुरि बसंत ऋतु इन डारन वे फूल!' और कहाँ इस मुहँजले ने वह तीर फेंका कि रह गए लोग कट-कर। और तो और, गाँव का हर नत्थू-ख़ैरा भी अकड़ गया उनसे। जवानों की टोली तो खुले आम तन गई। चली गली-गली नस्मत। "आख़िर इनकी नानी क्यों मरो

जाती है ? जैसे इन्हीं की जेब से रुपए आएँगे ! बने हैं नए ख़ैरख्वाह ! एक इन्हीं को तो रियासत का दर्द है ! हम सब तो तायफ़ों के तबलची ठहरे !"

इधर उत्सव का दिन करीब देख और यह ख़बर पा कि रियासत कोर्ट से छूट गई, भाँड़ों और तायफ़ों के भँडुए अपना दरबार जगाने आ टपके। लगे घर-घर दरवाजों की मिट्टी खोदने। हमारे यहाँ तो ख़ैर, उनकी रसाई न रही, मगर दरबारियों के कूचे में ख़ासी पैरवी चली। उनको पता चल गया कि वह कौन मुआ है, जो उनके मुँह की रोटी छीनने पर तुला है। यारों ने भी पीठ ठोंक ललकार दिया देवीलाल पर। यह तो कहिए कि मुंशीजी की चमड़ी मोटी थी, नहीं तो बोटी-बोटी की धुस्सियाँ उड़ जातीं उनकी।

इतने में पहुँचा न गुरूजी का तार। वह भी चले आ रहे हैं उत्सव में शामिल होने। मैंने देखा कि अब मामला संगीन हो चला। उनकी रसाई अंदर महल तक है। ठहरे वे पुरानी लकीर के फ़कीर। मंदिरों के उत्सव की रूप-रेखा में किसी तरह की तबदीली उनको कब पसंद होगी ! ख़बर होने की देर है। परंपरा के पुजारियों का दल मूँछों पर ताव देगा।

देवी बाबा से जब मैंने अपनी आशंका जताई तो उनके माथे पर तीन लकीरें उग आईं। पर दो ही मिनट

बाद एक अजब बौखलाहट से बोल उठे—"आने तो दो—एक फूँक पर पलट दूँगा उन्हें।" और थोड़ी देर बाद वे खिलखिलाते हुए लौट पड़े—"अच्छा, मैं स्टेशन चला, उनको लेने।"

मैंने ज़रा चौंककर कहा—"आप?"

"हाँ, हाँ, मैं।"

"वाह, भूल गए वह पुरानी—"

"अरे भाई, वे थाली के बैंगन ठहरे—तुम्हारा रुख देखकर अपनी नाव पर पाल बदल देंगे। मगर हाँ, उनकी विदाई की रक़म, समझे न—"

और तीसरे पहर गुरूजी जब भरे दरबार में तशरीफ़ लाए तो कितनों के चेहरे साफ़-साफ़ किसी ख़ुशी की उम्मीद से खिल उठे।

मगर ज्यों ही यह चर्चा छिड़ी और गुरूजी ने मंदिरों में बाज़ार की नटियों का प्रवेश देवता और धर्म का अपमान ठहराया तो फिर कुछ न पूछिए, कैसे गिरे हैं वे चुहचुहाते चेहरे! रह गए लोग ऐंठकर। किसी ने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि गुरूजी आते ही उनकी तमाम उम्मीदों पर यों पानी फेर देंगे।

पता नहीं, गुरूजी बेचारे पर क्या गुज़री—चूँकि दूसरे ही दिन भजन का आयोजन कर मैं चल दिया पटना! चार-

पाँच दिन बाद जब वापस आया, तब सुना कि यारों ने उनकी वह हजामत बनाई कि कहीं के नहीं रहे वे। देवीलाल की भ्मावली में आकर जो कुछ वे कह गए थे, उसे किसी तरह लौटा लेने पर भी तैयार-से हो गए। मगर यहाँ तो गोली बंदूक की नाल से निकल चुकी थी, वह वापस आती तो क्योंकर आती !

दूसरे साल जब मसूरी की सैर कर घर वापस आया तो सुना कि देवी बाबा मरकर बचे हैं। बीमारी सख़्त थी ; किसी को आस न थी। मगर झेलकर निकल आए।

दोपहर को जब खाने बैठा, तो रामलगन ने कहा कि देवीलाल भी हमारे चौके में खा रहे हैं—रोटी और कबाब। मैंने डाँटकर कहा कि झूठा है तू ; तो उसने एक फीकी हँसी होठों पर लपेट नहले पर दहला फेंका कि देवीलाल ढालने भी लगे हैं। वह ख़ुद ढालता रहा है, इसी लिए वह हर किसी की नाक पर भी मक्खी देखना चाहता है—यही दिल में ख्याल कर मैंने उस बात को हवा में उड़ा दिया। मगर बात-की-बात में बात सच निकल आई। बीमारी से उठने के बाद वे डटकर खाने भी लगे थे—पीने भी लगे थे। यह रवैया ही कुछ और था।

तो क्या वे देवी बाबा मर गए ? ये देवी बाबा कोई और हैं ?

और सचमुच मैं ने जब उन्हें देखा, तब मेरा अनुमान सच निकला। उनकी खाल में यह कोई और था। आदमी इस हद तक बदल सकता है—मुझे पता न था। मैं देख गया था उनको कुछ और, लौटकर पाया बिलकुल और ! वह तौर—वह तमीज़—दोनों ग़ायब। बूढ़े तो वे तब भी थे, बूढ़े आज भी हैं। मगर बुढ़ापे की उस पस्ती की जगह एक अजब नुमायशी फुर्त्ती-सी नज़र आती रही। नज़रों में गज़ब की चुटकी—चेहरे पर एक अजब बेशर्मी। एक ख़ामख़ाह का अल्हड़पन ! कभी-कभी बे-सिर-पैर की बात !

बूढ़ा जब जवान नज़र आना चाहता है तो वह शौक़ीनी में जवानों के कान तराशता है और उस छिछोरी शौक़ीनी से वह जवान की शान तो पाता नहीं, बूढ़े का सम्मान भी खो बैठता है। जब जवानी का परहेज़गार जवानी के उतार पर जवानी की रंगीनियों के हिर्स में लगता है सुराही का पेंदा चाटने, तो वह दामन पर छींटे पड़ने की परवा तक नहीं करता। जवानी के जिस रस की गंध पर नाक-भौं सिकोड़ता रहा, उसे बुढ़ापे में नाक-कान डुबोकर चाटना और फिर चाट न पाना—यह नियति का निष्ठुर परिहास ही नहीं, एक सरासर ज़ुल्म है

वह जो किसी ने कहा है न कि वह भी देखा, यह भी देख ! बस, कुछ न पूछिए, मैंने आँखों में लहू भरकर देखा—उनके कान में फ़ाहे, आँखों में सुरमा, बाल पर एक मटमैली मेंहदी, कानी उँगली में एक भद्दी अँगूठी ।

या भगवान ! यह देवी बाबा की शक्ल है या किसी चंडूल की ! पुलाव और क़लियों पर यह टूटकर आना ! रोज़ नहीं तो हफ़्ते में दो बार गदीख़ाने की सड़क नापना ! अरे भाई ! यह तो कभी के देवी बाबा न थे । यह आज कौन शैतान उनके सर पर सवार हो गया है !

और बात भी यही थी । उनका दिमाग़ मैंने सही नहीं पाया । कोई भी कुछ उनसे छेड़कर कहता और वे उसे चट मान लेते । किसी ने कहा कि 'देवी बाबा ! आज कलेजियों की कलौंजी बने तो कैसी रहे ?' और वे बोल उठते—'बस यार, बस, यही तो मैं भी चाहता रहा !' एक ने कहा कि 'कुछ सुना है देवी बाबा, वह जो बनारसवाली सुंदरिया आई है न—कुछ न पूछिए, आपकी गज़लें सुनने के लिए जान दे रही है ।' और वे लगे कहने—"हाँ, ऐसा ? तो देर काहे की—चलो ना !' जब जवाब मिला कि 'अजी साहब, ज़रा दाढ़ी-वाढ़ी तो बना लीजिए ! एक ज़रा-सी बाँकी तिरछी अकड़—हाँ !' तो वे चट रामकिशुन की तलाश करने बैठके के बाहर दौड़ पड़े । और जब दाढ़ी

बना, अँगरखा और पाजामा सीट चले उस सुंदरिया को ग़ज़ल सुनाने, तो बाज़ार की सड़क से रोककर वापस लाना भी एक क़िस्सा खड़ा करना हो गया।

अब हर कोई उनका मज़ाक बनाता और वे आसानी से बन भी जाते। मालूम होता कि उनके दिमाग़ की जो कुंजी थी, उसे मन के छुपे चोरों ने चुरा लिया। अब वह खुलता नहीं था। उसके किवाड़ जैसे बंद थे। समझ आए तो कहाँ से! और इधर मन के अनजान बिलों से निकल आई बरसों की भूखी, झँझोरी और झुँझलाई वृत्तियों की फ़ौज, उनकी सोई हुई सद्भावनाओं को लूटकर तबाह करने। जिस मन के मोर्चे को उन्होंने बरसों से विचार के रद्दे-पर-रद्दे रख किस मज़बूती से बाँध रखा था, वह बालू की भीत-सा उस बरसाती बाढ़ में ढेर हो गया।

तो क्या आदमी की विचारशक्ति उसकी प्रवृत्तियों के प्रवाह के आगे बालू की भीत है? कैसा निष्ठुर है प्रकृति का प्रतिशोध यह! मेरा रोआँ-रोआँ पुकार उठा—'हाय रे देवी बाबा! यह कहाँ बहे जा रहे हो तुम! तुम तो अपनी नाव पर उमंगों की हवा का रुख़ देख कभी पाल बदलते न थे—विचार के घाट पर वह बँधी थी और बरसों बँधी रह गई! तूफ़ान के चपेटों पर भी वह तिलमिलाई नहीं। जब खुली, तो करुणा के प्रवाह पर बही और काव्य के कछार पर जाकर

लगी। आज हम यह क्या देख रहे हैं। यह हिर्स की हवा उसे कहाँ उड़ाए लिए जा रही है !'

किसी ने कहा कि 'देवी बाबा, यह गोटे की टोपी तो आप के सर पर वह फबेगी कि भई, वाह !'

"हाँ, हाँ, अच्छी याद दिलाई !"—और वे बच्चोंवाली टोपी सर पर रख लगे बाज़ार में मटकने। कई तो उनसे रुपए भी झीट लेते—बातें बनाकर। और रुपयों के लिए आठों पहर वह तक़ाज़ा कि नाक में दम आ गया। जो शख्स अपनी हज़ार ज़रूरत पर भी कभी ज़बान नहीं खोलता रहा—जो बँधी रक़म मिलती रही उसे भी किसी की आह पर लुटा देता रहा—वह जब लगा आँखें मटका-मटका-कर हाथ पसारने, तो पृथ्वी वहीं दो टूक नहीं हुई—यही अचरज है। हमारी तो छाती फट गई।

यारबाशी भी ख़ूब चली। जब चकल्लस की पार्टी बैठती, तो देवीलाल की तलाश होती। उन्हें एकाध पेग पिला दिया और बस, लगे रसीली-रसीली ग़ज़लें छाँटने—

"बरस पंद्रह या कि सोलह का सिन
उमंगों की रातें मुरादों के दिन।"

जब वे ग़ज़ल कहना शुरू करते, तो हर बार इसी से शुरू करते और यारों ने उनका नाम ही रख दिया 'मुरादों के दिन'। जहाँ वे आए कि बस, मजलिस गर्म हो उठी—

"हाँ भाई, अब ज़रा जमकर महफ़िल रहे—वे आ गए, 'मुरादों के दिन'! अहा! मुंशीजी, आइए-आइए! बैठ जाइए! आप ही का तो इंतज़ार रहा।" कोई कहता—"अबे, कोई है? वह ह्विस्की की सुराही तो उठा ला!...कहिए, क्या पीजिएगा?"—और देवी बाबा ने मुँह बना कहा—"जा यार, वह कलवाला कबाब तो मँगाया ही नहीं"

"हाँ-हाँ, ज़रूर! अभी लीजिए!"—और कोई कबाब लाने दौड़ गया।

कबाब और शराब! यह टूटकर खाना और छूटकर ढालना! ढालने तो वे बेतरह लग गए। और मुझे रह-रहकर याद हो आती एक बीते दिन की उनकी चेतावनी कि आदमी जब जीवन से ऊबता है, तो अक्सर बोतल की शरण लेता है; मगर शरण तो मिलती नहीं, वह लगता है बोतल के तल में डूबने।

आख़िर मैं भी उस रंग में आ ही जाता। देखा-देखी उनका मखौल उड़ाता। फिर जब पार्टी उठ जाती और मैं सोच पाता, तो मेरी तमाम ममता चिल्लाकर रो उठती—"नहीं-नहीं, यह दिमाग़ की कमज़ोरी होगी। आख़िर कोई तो इलाज होगा!" जब उनके सामने के पनपे हुए छोकरे निहायत इतमीनान से उनके गले में हाथ डाल 'ज़री सुन तो यार!'—भुन-से कहते, तो मेरे होठों पर हँसी के साथ-साथ आँखों के कोने में आँसू भी छलक आते।

मगर देवी बाबा यह मानने को तैयार ही न थे कि वे अभी कमज़ोर और बीमार हैं। दिमाग़ के पुर्ज़े हिल गए हैं। ऐसी बात तो ज़बान पर लाने की किसी की मजाल न थी। वे ज़बान तराश लेते।

हाँ, मैं बराबर समझता रहा कि वे बीमार ही हैं। मगर लोग कब मानने लगे!—"जी नहीं, ख़ासे मोटे-ताज़े हैं—ऐसे अच्छे तो वे कभी के न थे।" मैं दंग था। क्या अच्छा होना है! इससे भी कोई बुरा हो सकता है? देह मोटी होकर क्या हुई, जब समझ मोटी हो गई?

मालूम होता है कि जब रोग उनकी साँस को उखाड़ न सका, तो जान के बराबर क़ीमती दिमाग़ की कीलें उखाड़ चलता हुआ। जभी तो वे आदमी से जानवर के तबके में आ गए! और जो भी चाहता है, उन्हें जरा पुचकारकर मज़े से चरा लेता है। वह ज़ालिम जान ही लेकर जाता, तो इस जान ढोने से अच्छा रहता। वह मान तो नहीं ले पाता—जान ही लेता न!

अस्पताल के डाक्टर मेरे बड़े विश्वासपात्र थे। बड़े ख़ुदातरस मुसलमान। तजरबा तो था ही—हाथ में यश भी था। मैंने डाक्टर साहब से कहा कि देवी बाबा को अपने हाथ में लीजिए। उनका चेहरा भरा-सा, बदन फफसा-सा नज़र आता है, मगर हैं वे अंदर खोखले। यह तेज़ी और

फ़ुर्ती बिलकुल नुमायशी है, कुछ असली नहीं। रह गया दिमाग़। वह तो साफ़ अपनी जगह से हिल गया है।

मगर डाक्टर साहब कुछ समझ न पाते थे कि यह माजरा क्या है। आदमी जब बूढ़ा होता है, तो बच्चों का दिमाग़ हो जाना कुछ अचरज नहीं। यही निदान उनका बराबर रहा। हाँ, मैं समझता रहा कि वे सरासर भूल पर हैं।

मगर इस ख़ब्ती की सीमा कुछ इसी यारबाशी पर नहीं रही। वह बेशर्मी की सीमा तोड़ने लगी।

जो फ़िरक़ा पहले उनसे बराबर खिंचा रहता था, वह गले का हार हो चुका था। लफंगे तो ख़ैर, किसी बिगड़े रईस की दिलजोई उनकी रोटी ही है—उनको छोड़िए; भले आदमी भी कुछ दो घड़ी की चकल्लसबाज़ी की चाट पर उस आग में घी बने थे। मैंने पहरा भी बिठवाया, मगर कोई भी मछली को जाल से छोड़ने को तैयार न था।

पुजारीजी ने तो पैंतरे बदल वह पटे का हाथ मारा कि बस। शादी का चकमा दे उनकी बची-खुची इज़्ज़त भी लीप-पोतकर बराबर कर देने की ठहरी। और देवी बाबा कंघा झाड़ चट तैयार हो गए। वे इस रंग में ऐसे आए कि एक पल चैन नहीं। जिस कूचे में मुड़ते, अरमानों का एक बवंडर उनके साथ रहता। लगे खुलकर खुशियाँ मनाने।

अब इन गुलछर्रों की गर्मबाज़ारी में वह 'आँसू का ताज़' क्या मोल रखता ? जब लालसा के इत्र में बस गए, तो दर्द में बसी गज़लें कहाँ जगह पातीं ? फ़ुरसत भी तो न थी गज़ल लिखने की। काश, फ़ुरसत हो भी तो वह तबीयत कहाँ थी ! उनकी कापी तो संदूकची में पड़ी टापती रही। कहाँ रही वह उमा, जो उनके दिल को मौज और उनकी वाणी को ओज दे गई थी !

मैंने जब शादी की बात सुनी, तो लगी एक आवाज़ मेरे कान में गूँजने—'भाई, मैं जनम का भूखा तो ज़रूर हूँ, मगर यह भूख मुझे खा न पाएगी। वह मेरी ख़ूराक रहेगी—उसकी ख़ूराक मैं न बनूँगा।'

और मैं हँसा कि अब बनने को बाक़ी ही क्या है !

जो आदमी इस बस्ती की मिट्टी पर फूँक-फूँककर पैर देता रहा, उसके पैर आज ज़मीन नहीं छूते हैं। और यह भी तब, जब पैर रिक़ाब में देने के दिन आए।

देवी बाबा उस दिन बेतरह बाग़-बाग़ थे। भेंट होते ही शादी की चर्चा छिड़ गई। मैं मुश्किल में था। सामने मैदान लेना विवाद मोल लेना था।

हँसते-हँसते हकीम साहबवाली बात याद दिलाई। उन पर भी जब यह ख़ब्ती सवार हुई थी तो देवी बाबा ने जो फटकार बताई थी—उसे मैं दुहरा गया।—'बूढ़ा जब आबरू

बेचता है, तो जोरू पाता है!' मैं धीरे-धीरे वह पुरानी बात कह गया। मगर कोई असर नहीं। उन्होंने इस तरह मुझे देखा, जैसे उनको कुछ याद ही न हो। भगवान जाने दिमाग़ की उस पस्ती की वजह उनकी स्मृति की तख़्ती लिप-पुतकर बराबर हो चुकी थी या वे जानकर अनजान बन रहे थे! एक अजब बेतुकी हँसी हँसकर उन्होंने कहा—

"मैं तो अपने को बूढ़ा समझता ही नहीं।"—और उनके नए हमनेवाले-हमपियाले, जो उनके साथ बैठे थे, चट बोल उठे—"हुज़ूर, देवी बाबा तो जवान हुए जा रहे हैं!"

मैंने बात का रुख़ बदलना चाहा—"अच्छा, तो कल बातें होंगी।"

"बात क्या होगी—बात तो तै है।"—और देवी बाबा अपने दोस्तों को एक भद्दी मटकी देते उठ गए।

मुझे विश्वास ही नहीं होता रहा कि कोई अपनी लड़की उनको देना स्वीकार करेगा। वह तो कुँए में भाठना था। हाँ, कुछ दिनों के लिए एक मज़ेदार मज़ाक का सिलसिला रहा। बात भी यही निकल आई। कोई लड़की तो कहीं थी नहीं—न उसकी तलाश ही थी। बस, यारों की एक दिलबस्तगी थी। उनको कुछ और कटीले काँटों में घसीटना था। इस निष्ठुर परिहास का अंजाम क्या होगा—उतनी दूर तक कोई जाने को तैयार न था।

स्कीम भी बनकर तैयार थी। कुछ-एक की राय थी कि किसी लौंडे को साड़ी और लहँगा पहना दुलहिन बना लिया जाय। थोड़ी दूर किसी गाँव में उसे किसी की लड़की क़रार दे शादी का रस्म अदा कर दिया जाय। फिर डोली पर चढ़ाकर देवीलाल की कोठरी में पहुँचा दिया जाय। और जब फूलशय्या के वक़्त भंडाफोड़ होगा, तो हँसते-हँसते पेट में बल पड़ जायँगे।

देवीलाल की उस सूरत की कल्पना कर अभी से यारों के पेट में चूहे कुलाँचें मार रहे थे। मगर औरों को यह स्कीम पक्की नहीं जँची। इसकी सीमा तो फूलशय्या ही थी। महीने-भर में तमाशा ख़त्म हो जाता। उनकी राय थी कि यह अभिनय कम-से-कम छः महीने भी तो चले। वे कुछ दूर की कौड़ी लाने को तैयार थे। किसी घोड़चढ़ी मालज़ादी को कुछ रुपए देकर दुलहिन का पार्ट खेलने के लिए वे तैयार कर चुके थे। वह आती, तो चंद महीने यह क़िस्सा खड़ा रहता। उसे इनकार भी न था—बशर्त्ते कि माह-ब-माह उसकी मजूरी की गारंटी कोई कर दे। और दुलहिन की माँ और बाप का पार्ट करने के लिए एक बूढ़ा और बूढ़ी भी कहीं से मुहैया हो चुकी थीं। बस, मेरी मर्ज़ी की देर थी। यह मुमकिन न था कि यह तमाम स्कीम मेरी मर्ज़ी के खिलाफ़ निभ सके। उस षड्यंत्र के कर्त्ता-धर्त्ता मेरे

कितने मुलाज़िम भी थे। बिसात पर गोटी बिछ चुकी थी। बस, एक इशारे पर चाल शुरू हो जाती।

यह नहीं कि मैं मज़ाकपसंद नहीं हूँ। मगर देवी बाबा के सर पर इस भयंकर परिहास के लिए मेरी आत्मा तैयार नहीं होती थी। लोगों ने दरबारी क़ायदे से कहा भी—"हुज़ूर बस दूर से तमाशा देखें। आख़िर दो घड़ी का एक दिलबहलाव है, दरअसल तो कुछ है नहीं।"

एक ने कहा—"होली के दिन हैं हुज़ूर, होली का स्वाँग ही सही!"

देवी बाबा की हजामत मेरे आँगन में बनाई जाय—मेरे आदमी मेरे सामने बेखटके उनका सर मूँड़ते रहें और मैं कोठे की खिड़कियों पर खड़ा होकर हँसा करूँ, यह एक ऐसी दर्दनाक बात थी कि रियासती वायुमंडल भी मेरी थर्राहट का गला टीप न सका।

मगर मुश्किल तो यह थी कि देवी बाबा ख़ुद सिर हो गए थे। मैंने झुँझलाकर कह भी दिया कि यह आपकी हजामत बनाने की बंदिश है; मगर वे काहे को सुनें! उनके सर पर तो शैतान सवार था। अगर इस शादी का सब्ज़बाग खड़ाकर उनकी खङ्गहस्त लालसाओं का रुख़ एक रास्ते पर न रखा जाय, तो वे भटककर न जाने किस पनाले में लोट जाते। और मैं कहाँ-कहाँ उनकी निगरानी करता

चलता ! पुजारीजी ने जो ज़हर उनके दिमाग़ में बो दिया था, वह अब फल-फूलकर तैयार हो चला। किसी के वश की बात भी न रही कि उस ज़हर की गर्मी उतारकर धर दे। देवी बाबा तो अपने में थे नहीं ! उनकी बरसों की सताई हुई प्रवृत्तियाँ दुश्मन के मोर्चे कमज़ोर पाते ही दिमाग़ के क़िले को घेर चुकी थीं। उस घेरे के भीतर किसी विचार की रसाई ही न थी। दिल पाना तो दूर रहे, उनका कान तो कोई पा ही न सका।

बस, देवी बाबा का हठ दिन दूना और रात चौगुना बढ़ चला। मैं हैस-बैस में पड़ा रहा। कुछ तै कर न पाया। उनको बातों में अटका रखने के सिवा कुछ और नहीं सूझा।

हठात् मुझे पटने से एक ज़रूरी तार आया। मैं इस क़िस्से को उनकी क़िस्मत पर छोड़ चल दिया।

दस दिन बाद जब घर लौटा, तो सुना कि देवी बाबा का आज तिलक चढ़ रहा है। लोगों ने कहा कि यह रस्म अदा करने पर उनको कुछ इतमीनान हो जायगा और ब्याह के दिन के लिए साइत का बखेड़ा खड़ाकर महीनों टाल ले चलना मुश्किल न होगा। भगवान जाने उनके पेट में पाँव थे या उनके पेट की यह बात थी। मैंने भी समझा कि चलो, आज एक तमाशा भी रहा और उधर ब्याह भी टला।

देखा—बँगले के दरबार-कमरे में तिलक का आयोजन तैयार है। फर्श बिछी है। गद्दी लगी है। दो आसेबरदार लैस होकर सामने खड़े हैं। कोई गंगाजमनी पंखा झल रहा है, कोई पान का तश्त 'पास' कर रहा है। गद्दी पर मसनद के सहारे दूल्हे के वेश में देवी बाबा रौनक़अफ़रोज़ हैं। सर से पैर तक अबीरी जामा—बनारसी साफ़ा—पोत का मँगनी अँगरखा—घुटी दाढ़ी—छँटी मूछें—सुरमई आँखें—रँगे बाल—पेशानी पर चंदन का तिलक—गले में गोटे का हार—एक अजब रूप-रेखा है। हँसी भी आती—आँसू भी आते।

कलसा रख गौरी-गणेश की पूजा के वक्त जो उनकी भद्द हुई, उसे क़लम नहीं आँक सकती। कोई अपनी कल्पना से वह तसवीर खड़ी कर ले। किस इतमीनान से—किस ध्यान से—उन्होंने पूजा संपन्न की, वह आँखें फाड़ देखने की चीज़ थी। सर झुकाकर, भगवान जाने, क्या गुनगुनाए और एक ने पीछे से पंखे की बेंट से सर पर चपत जो दी तो उनका साफ़ा भरककर गणेशजी के सर पर आ गया और ब्राह्मणों ने चिल्लाकर कहा—"शुभ है—शुभ!" फिर आशीर्वाद की झड़ी बँधी। कुछ रस्मों की विधि पर बहस रही। कुछ अंड-बंड संस्कृत के श्लोक पढ़े गए और ५१) नक़द और तंजेब का एक थान तिलक चढ़ा।

मुबारिकबादियाँ चलीं। तालियाँ भी पिटीं। लड़की के बाप का पुरोहित बना था एक छँटा भाट। उसने तो वह रंग जमाया कि होठों के भीतर हँसी थामते-थामते आफ़त हुई जाती थी।

पता नहीं, देवी बाबा को याद आई या नहीं, पर मुझे तो याद हो आई उनकी जवानी की वह रँगरली, जब पाठकजी के साथ पुरोहित बनकर संस्कृत की पद्धति की जगह हाफ़िज़ की गज़लों पर एक निरे गँवार के घर वे ब्याह कराने गए थे। और हठात् कहीं से एक आवाज़ कानों पर गूँज गई—

"हाँ बाबू, आदमी जो कुछ भी करता है, वह एक दिन पलटकर उसी के सर पर आता भी है।"

और उस रात को महफ़िल जो जमी, तो देवी बाबा लगे पागल की तरह ढालने। मैं तो उस चकल्लस में गया नहीं। लोगों को मुझसे लिहाज था। मुझे भी उनसे था। मगर जब शोर-गुल शिष्टता की सीमा पार कर आसमान छूने लगा, तो मैंने देखा कि अब मामला संगीन हो चला है।

आख़िर जब किसी ने कुछ सुना नहीं, तो ख़ुद गया। देखा—देवीलाल पीकर टन् हैं। गाना-बजाना तो बंद है। उन पर फ़िक़रे चुस्त होते हैं और हँसी के फव्वारे छूटते हैं। सामने बोतल धरी है। गिलास भरा है। होठों से पान की

चिपचिपी पीक चू रही है। आँखें टँगी हैं। बाल हवा में उड़ रहे हैं। चादर और अँगरखा शराब के छींटों से तर-ब-तर है।

मैंने बोतल और गिलास उनके सामने से उठा लेने को कहा। वे तो नशे में ऐसे ग़र्क़ थे कि बात भी साफ़ न कर पाते थे। मगर गिलास खिसकाने के वक़्त एक अजब झिझक से बोले—

'गो जुंबिश नहीं हाथों में आँखों में तो दम है।

साक़ी भरा रहने दे मीना मेरे आगे।'

इस बेहोशी में भी वे कह गए। फिर कहकर जो गिरे, तो होश जाता रहा।

× × × × ×

हफ़्तों बीमार पड़े रहे। आँखें बंद। बोलचाल बंद। कभी दवा, कभी दूध, कभी फलों का रस—यही आधार रहा। एक दिन सुबह आँखें खुलीं। खुलते ही पुकार उठे—

"भैया, मेरी वह किताब तो उठा लाओ!"

मैं वहाँ मौजूद था। पहचाना, यह तो मेरे पुराने देवी बाबा की आवाज़ है—नए की नहीं। वही सहज चेष्टा—वही दर्द-भरी चितवन—वही मीठा गला—वही प्यार का परिचित संबोधन। मैंने पुकारकर कहा—

"अच्छा, अभी मँगाता हूँ। यह अनार का रस तो लीजिए!"

"नहीं-नहीं, मेरी ज़िंदगी का कौन ठिकाना, उसे तुम्हें सौंपता जाऊँ!"

इसी बीच डाक्टर साहब आ गए। बोले—

"अजी वाह! अभी चंगे हुए आप! दस दिन तो शादी रह गई।"

"शादी किसकी?"

"धन्य हैं आप! आपकी और किसकी!"

"क्यों भाई, यह मज़ाक का वक्त है?"

"अच्छा बन रहे हैं आप! वह तिलक जो चढ़ा उस दिन!"

और देवी बाबा ने ज़रा आँखें तरेरकर कहा—

"ज़रा होश में बातें कीजिए! किसका तिलक? कैसा तिलक?"

बस, कुछ न पूछिए! अब कुछ समझने को बाक़ी न रहा। काँटे ने काँटे को निकाल डाला। इस बेहोशी ने पहली बेहोशी के असर को मार भगाया। उनके सर पर वह एक आँधी थी, जो, शुक्र है, निकल गई। अब वे अपनी पुरानी जगह पर आ गए। आँख खुलते ही उस कापी की तलाश उनकी समझ की वापसी की पक्की निशानी थी।

जब डाक्टर साहब उनके मुँह के पास कोई दवा ले गए, तो चट उन्होंने मुँह फेर लिया—

"नहीं-नहीं, मेरी दवा तो दीदार है। मुझे वह कापी दिखाइए !"

और हँसकर फ़ारसी का एक शेर कह गए—

'अज़ सरे बालीन मन बरख़ेज ओ नादाँ तबीब
दर्दमंदे इश्करा दारू बजुज़ दीदार नेस्त।*

आख़िर उस कापी की तलाश शुरू हुई। देवी बाबा ने ख़ुद कहा—"अरे भाई, देखो, उस ताक़ पर कुंजी होगी—कोठरी का कुंडा खोल मेरी संदूकची उठा लाओ। उसी में वह रखी है।"

मैंने नौकर को इशारा किया। वह ताला खोल कोठरी में घुसा तो संदूकची ग़ायब ! कहीं एक चिट तक नहीं। वह दबे पाँव मेरे कानों में फुसफुसा गया—'सरकार, कापी तो ग़ायब है !'

मेरे हाथ से तोते उड़ गए। डाक्टर साहब को अलग ले जाकर मैंने तमाम परिस्थिति समझाई। वह किताब तो उनकी जान थी। बरसों से वे उसी पर मरते और जीते रहे। उनकी तमाम उम्मीदों—तमाम हसरतों—पर पानी फिर गया। डाक्टर साहब ने कहा कि आख़िर पता तो लगाइए। कब तक इन्हें टाल

***ऐ नादान हकीम, तुम मेरे सिरहाने से उठ जाओ। तुम्हें इतनी भी समझ नहीं कि जो इश्क का बीमार है, उसकी दवा दीदार के सिवा और कुछ नहीं है।**

सकते हैं ! एक मिनट के लिए भी इन्हें चैन नहीं ।

मैंने भी सोचा कि कोई उस कापी को चुराकर क्या करेगा । अगर संदूकची मिल गई, तो बस, कापी मिली ही मिली है ।

डाक्टर साहब उन्हें सँभालने चले । मैं चला कापी का पता लेने ।

मुझे याद नहीं कि मैंने इस जीवन में कभी किसी नादिरशाही पर क़दम रखा है । हाँ, उस दिन वह हंगामा खड़ा कर दिया कि लोग दंग आ गए । मेरी ज़ात से ऐसी सख्ती की किसी को उम्मीद न थी । जब फाटक के पहरेदारों की वर्दी-पेटी छीन गरदन में हाथ डाल निकाल बाहर करने का हुक्म दिया, तो उनमें से एक फूटा और तमाम माजरा खुल गया ।

मंदिर के उस टहलुए के घर से वह टूटी-फूटी संदूकची निकल आई और कापी की जगह चंद फटे-चिटे कागज़ के चिथड़े ! कुछ तो सड़ गए थे—जितने मिले, उतने बटोर लिए गए । मगर सब बेकार !

भगवन् ! यही रहे वे कलेजे के टुकड़े ! बस, मुट्ठी भर चिथड़े ! दुनिया ने आँसुओं के इस ताज को देखा भी नहीं । वह ज़लज़ला आया कि धज्जियाँ उड़ गईं । उनकी तमाम ज़िंदगी की कमाई एक फूँक में लुट गई । देवी बाबा

अपनी इस इकलौती प्यारी संतान की लाश देखकर छाती में साँस रख पाएँगे !

आखिर यह राय ठहरी कि अब कह ही देना ज़रूरी है, वरना इस इंतज़ार में वे जान खो बैठेंगे ।

"देवी बाबा ! वह कापी तो शायद गुम हो गई !"

" हैं ! गुम हो गई ! नहीं-नहीं, गुम नहीं हो सकती ! भगवान मुझ पर इतना कठोर नहीं हो सकता । मैंने कब किसी का कुछ बिगाड़ा है भाई ?"

"किसी का बिगाड़ा नहीं, लेकिन किसी का बनाया तो है आपने ! यही है वह नमकहराम चोर !"

और उस टहलुए को ठेलकर उनके सामने लाया गया ।

"तुम...तुमने...नहीं...नहीं..."

और देवी बाबा की आँखें झिप गईं । दाँत लग गए ! मुँह पर पानी का छींटा दिया गया । नाक पर शीशी रखी गई । कोई असर नहीं !

डाक्टर साहब ने एक तरकीब निकाली । उनके कान के पास मुँह ले जा चिल्लाकर कहा—" आपकी कापी के फटे-चिटे टुकड़े तो कुछ मिले हैं !"

और चट देवी बाबा ने आँखें खोल दीं ।

"कहाँ है भाई ?"

वह टूटी संदूकची और मुट्ठीभर सड़ी-घुसी टुकड़ियाँ सामने टेबुल पर रख दी गईं।

देवी बाबा ने उन धज्जियों को कुछ उसी निगाह से देखा, जिस निगाह से कोई पिता अपनी एकमात्र संतान की आख़िरी साँस को देखता है। उस एक दृष्टि में उनके जीवन की तमाम वेदना जाग उठी थी!

कुछ देर चुपचाप देखते रहे। एक अजीब आलम रहा। फिर लगे भुनभुनाने—

"सुना है—शाहजहाँ ने मरते दम कहा था कि मुझे झरोखे से ताज दिखा दो! और वह उसे देखते-देखते मर गया! मैंने भी सोचा था कि मैं ताज देखकर मरूँगा। चला था किसी की याद में दिल के टुकड़ों का ताज बनाने—हुँह, बदनसीब की इस हिमाक़त को तो देखो—"

उनके होठों पर एक रेखा-सी खिंच आई। तमाम चेहरे पर पीड़ा घनी हो गई।

"हाँ, तो बाबर ने बेटे की जान की एवज़ अपनी जान रख दी थी। यह भी तो मेरी औलाद है न! काश, इन धज्जियों में—"

और दुबारा जो उनकी आँखें बंद हुईं, वो फिर खुलीं नहीं!

× × ×

दूसरे दिन डाक्टर साहब उन्हें जैसे-तैसे अस्पताल ले गए। वैसी देख-भाल यहाँ संभव नहीं थी।

एक अलग कोठरी में तीन दिन वे बेहोश पड़े रहे। चौथे दिन चुपचाप उठ गए!

कौन कहे—वे कहाँ गए। जहाँ कहीं भी गए, उनकी हसरत भी साथ गई या वह मायाविनी शरीर के साथ यहीं जल गई, कौन कह सकता !

मैंने तो जो सुना तो भीतर से जाने कौन कराह उठा—हाय! उस विशाल जीवन का यही अंत होना था! कोई भी दुनिया का चाहनेवाला दुनिया से इस तरह उपेक्षित नहीं गया होगा! जो यहाँ आता है, वह एक-न-एक दिन जाता ही है। फिर भी कोई ऐसा नामुराद जाता है!

कहाँ है इतिहास के पट पर जीवन की इस विफलता की तुलना! और कहाँ है विफलता के पट पर हृदय की वैसी सजीवता की तुलना!

काश, उनके जीवंत प्राणों के रक्त से स्पंदित वह ताज सही-सलामत रहता, तो क्या आज का सहृदय संसार पुकार-कर नहीं कहता—

देवी बाबा

पुने छिले संगे करे मृत्युहीन प्राण
मरणे ताहाइ तुमि करे गेले दान ?*

× × ×

गुलाबी दुपहरी होगी। आफ़िस में बैठा मैं एक सरकारी ख़त का जवाब लिख रहा था। पेशकार ने दबी ज़बान से कहा कि ख़बर आई है कि देवी बाबा नहीं रहे! बस, हाथ से क़लम छूट गई। देखा—आफ़िस के अमले एक अजीब आलम में मेरा मुँह जोह रहे हैं। मैंने हँसने का प्रयास किया और एक धुँधली-सी अधूरी हँसी हँसकर कहा—"आज आफ़िस छुट्टी!"

और लोग एकाएक एक दबी खुशी से उछल-से उठे। दरवाज़े से एकाउंटेंट बाबू ने ज़रा-सा बढ़कर पूछा—"तो क्या सचमुच छुट्टी रही?" और पेशकार ने गरदन फेर कहा—"हाँ, छुट्टी!"—और बस, इस कमरे से दौड़ती हुई आवाज़ उस कमरे में चली गई। वहाँ से जो उठी तो तीसरे में और तीसरे से चौथे में—फिर सायबान में, दालान में, आँगन में—हर जगह छुट्टी की धूम मच गई। सारी कचहरी में एक खलबली-सी उठ आई। लगे लोग टेबुल पर फैले हुए कागज़ों को जैसे-तैसे फ़ाइल में समेटने—फ़ाइलों को

***जिन मृत्युहीन प्राणों को साथ लेकर तुम यहाँ आए थे, मरते दम उन्हीं को तुम विश्व को दान कर गए।**

डेस्क में ठूँसने—रैक और आलमारियों में रजिस्टर फेंक ताले लगाने और बस, झटपट जेल से छूटे क़ैदी की तरह निकल भागने के लिए तैयार हो गए।

मैं दीवार की आड़ में खड़ा इस हलचल को देखता रहा। भन्न-भन्न कान पर आवाज़ आती है—

"क्यों भाई! यह सबेरे-सबेरे छुट्टी—माजरा क्या है?"

"अरे, देवीलाल उठ गए न! वही बूढ़े जो थे—अजब ख़ब्त-से—सरकार के न जाने कौन होते रहे।"

"भगवान भला करे उनका! बड़े वक्त से गए यार! आज हफ़्तों पर घर जा सकूँगा। आठ ही मील तो है—"

"तुम्हें घर जाने की ऐसी क्या पड़ी है?" और कोने से एक हँसी की आवाज़ आई—"वाह! तुमने सुना नहीं, नई बहू आई है न!"

और मैं ज्यों ही बाहर आया कि देखा—लोग कमरों से धड़-फड़ निकले आ रहे हैं। कोई सर पर टोपी रख गले में चादर लपेट रहा है, कोई जल्दी में कोट की बाँह में हाथ डाल रहा है। मुझे देखकर ज़रा ठिठककर हाथ उठाते हैं और चेहरे पर खेलती हुई छुट्टी की खुशी की वह लहर एक ज़रा-सी संजीदगी के तले गुम हो जाती है।

सोचा—अस्पताल चलकर एकबार देख तो लूँ! उसी

और मुड़ा। दो क़दम बढ़ा। आगे चल न पाया। खंभे की आड़ में रुक गया।

हठात् पेशकार साहब की आवाज़ कानों में पड़ी—"अबे ओ! सुन तो सही, आज बाज़ार है न! अरे भाई, चार आने की बगेरियाँ लेते आना। पैसे की कितनी आती हैं—दो न?"

और आफिस का चपरासी कहता है—"पैसे तो अब रहे नहीं साहब!"

"अच्छा, ठीकेदार साहब से कह दीजियो कि पेशकार साहेब माँगिन हैं। चलते तो हम भी, मगर जाने पाऊँ तब तो! मनेजर साहेब जो कह रहे हैं कि अस्पताल चलना होगा।"

इस अचानक छुट्टी की फ़ुर्ती में देवी बाबा की याद भी किसी को नहीं आ पाती! बस, याद आती है—आज बाज़ार का दिन है—बाज़ार में बगेरियाँ आई होंगी—अभी एक ही बजा है—घर पहुँच जाने का वक्त काफ़ी है—आठ मील सड़क नाप बहू से भेंट होने की संभावना है।

वे बाज़ार के दिन मरे और वह भी सवेरे-सवेरे कि जो चाहे वह बाज़ार कर सके और जो चाहे वह घर जा सके—इस एहसान के हीले भी तो थोड़ी उनकी चर्चा छिड़ती!

बस, एक की ज़बान पर ज़रा-सी उठी और वहीं ख़त्म हो गई !

तो ऐसी बेहया है यह दुनिया, ऐसी बेदर्द ! मगर भला, दुनिया को भला-बुरा कहने का मुझको ही कौन हक़ है ? मैं कुछ उससे अलग थोड़े ही हूँ ! उस दिन बूढ़े लक्ष्मी तिवारी का इकलौता बेटा झुक गया, तो मैंने ही कौन रात के भोजन में कोई कमी या तबदीली की ?

हाँ, तो देवी बाबा ने सच ही कहा था—

"समझे न भैया ! जब मेरी आँखें बंद होंगी तो किसकी आँखों में दो आँसू भी होंगे ? किसके होंठ पर एक हल्की-सी 'उफ़्' भी उठेगी ?"

और मैं आगे बढ़ गया। जब तालाब की मोड़ पर पीपल के साये में आया—सामने अस्पताल, दाएँ स्कूल—तो जाने क्यों फिर क़दम बैठ गए। पेड़ के तने पर पीठ रख ठिठक गया।

देख रहा हूँ—बाईं ओर बाज़ार की सड़क भरी जा रही है। बच्चे और बूढ़े—जवान और रँगीले। किसी के कंधों पर लटकती झोली है, किसी के हाथ में तेल की बोतली। किसी के सर पर अनाज का बोरा है—किसी के सर पर दही का मटका। कुँजड़ों की औरतें माथे पर भाँटा और भिंडी की दौरियाँ लिए ठाट से लपकी जा रही हैं—

इधर नज़र पड़ती है तो चट आँचल समेट घूँघट काढ़ लेती हैं। सामने दो छोकरे तालाब में डोरी फेंक मछली की ताक में जो बैठे थे, हठात् मुझे किनारे खड़ा देख डोरी फेंक अस्पताल की ओर सर पर पाँव रख भागे जा रहे हैं—जगत का बेटा सर पर भुने चने और खसिया का खुंचा लिए 'चना जोर गरम' की रट लगाता स्कूल के फाटक पर चक्कर दे रहा है—लंच की छुट्टी की घंटी बज रही है—स्कूल के लड़के कमरे से भर्र-भर्र निकले आ रहे हैं—कितने साइकिल पर झपाक-से बैठ बाज़ार की ओर मुड़ चले हैं—कितने 'गरम चने' की आवाज़ पर फाटक की ओर दौड़ पड़े हैं—मौलवी मुरादबख्श मास्टर के पीछे-पीछे दो-चार लड़के जाने क्या अनाप-शनाप बकते इसी ओर क़दम उठाए बढ़े आ रहे हैं।

और मैं सुन रहा हूँ—'दाराशिकोह और औरंगज़ेब'... 'तो दाराशिकोह कौन था मौलवी साहब?'...'कहा तो सौ बार कि वह औरंगज़ेब का बड़ा भाई था, जिसे मारकर वह तख्त पर बैठा'।...'बड़े भाई की जान ले ली, ऐसा?'...'हाँ जी हाँ, वह कोई भरत ऐसा साधु थोड़े ही था, जो बड़े भाई राम के लिए हाथ में आया हुआ तख्त ठुकरा देता'...'अपनी-अपनी मर्जी' और 'अच्छा मौलवी साहब!' और 'आदाब मौलवी साहब!' और कँकरीली घास पर दौड़ते पैरों की पट-पट।

और इधर सामने अस्पताल की सायबान से कभी बोल-चाल की आवाज़, कभी एक चीख़ कान पर टकराती है—'वो ज़रा बाजार चला डाक्टर साहब, एक लाल किनारी की साड़ी की फ़रमाइश है न!'—और 'अच्छा-अच्छा, जाते हो तो देखना—कोई ताज़ी मछली आई हो तो सेर-आधसेर लेते आना—मगर मैंने कहा, भैया मेरे, वह लाश जो पड़ी हुई है न! ज़रा रियासत के नाज़िर को ख़बर करते जाना, उसे उठा ले जायँ'—और हठात् किसी बच्चे की चीख़ और डाक्टर साहब की पुचकार—'बाबू मेरे! भैया मेरे!'

और मैं चक्कर में हूँ। पाँवतले ज़मीन चक्कर काट रही है—सर पर आसमान चक्कर काट रहा है। यह दारा और औरंगज़ेब—यह भरत और राम! आख़िर औरंगज़ेब भाई के ख़ून से हाथ रँग तख्त पर बैठा तो क्या! भरत भाई के ख्याल से तख्त पर नहीं बैठा तो क्या! किसकी तूती बोली! किसकी तूती नहीं बोली! इधर एक आदमी की लाश पड़ी सड़ रही है—कोई पुरसाँहाल नहीं। और उधर मछलियों और बकरियों की लाश पर पैसेवालों में छीना-झपटी चल रही है। यह कैसी विडंबना! आख़िर क्या जीना है; क्या मरना—कोई भी पोल खोल पाता! कोई भी पर्दा उलट पाता! और न जाने कहाँ का एक मनचला देहाती तान छेड़ता हुआ सामने से निकल गया—

'रतिया अँधेरी रतिया उँजेरी—
भर ले पिया नित मन की चँगेरी ।'

चल रे मन, चल ! अस्पताल ही चल ! और बस, मैं अस्पताल जा ही तो पड़ा । सायबान में क़दम रखा था कि डाक्टर साहब की झिड़कीभरी चीख़ सुन पड़ी । तो यह ड्रेसर की मरम्मत हो रही है—'देखो तो सही, बच्चे का जख्म आज तक भरा नहीं । आइडीन की बत्ती भी तुम नहीं दे पाते ।'

और अतीत के परदे को फाड़ती हुई किसी की आवाज़ कान में गूँजती है—"अरे भाई, भगवान न करे कि मेरा यह जख्म भरे । इसको ताज़ा रखने ही में तो कुशल है !"

मैं उधर न जा पच्छिम की ओर मुड़ गया । देवी बाबा इधर ही थे । दरवाज़े पर पहुँचा, तो देखा कि किवाड़ बंद हैं और चौकठ के पास बैठ अस्पताल का चपरासी गाँजे का दम लगा रहा है । आँखें उसकी गुलाली हो रही हैं । मुझे देख हड़बड़ाकर जो उठा, तो धुआँ उसके हलक़ में फँस गया । लगा बेतरह खाँसने ।

और न जाने क्यों मैं अंदर जा न सका, लौट पड़ा ।

रास्ते में मैनेजर साहब मिल गए । लगे कहने कि बिरादरी तो कोई शामिल होने पर तैयार नहीं । किसी को एक बूँद दर्द भी नहीं । हाँ, हमारे आदमी तैयार हैं । हुक्म हो, तो अर्थी गंगा-किनारे भेजी जाय ।

मैं ने कहा—"तो अब देर न कीजिए, मैं तो साथ चलूँगा ही।"

"नहीं, नहीं, यह कैसे होगा? कल बच्चे की छट्ठी है न!"

"कुछ भी हो, आख़िर—"

"अच्छा, अच्छा! अर्थी तो आप जाने दीजिए। इंतज़ाम तो सब कर लिया है मैंने। वह कहाँ का पटवारी है न—जो शायद मुंशीजी के गोत्र का भी है—वह तैयार है, सब कुछ कर लेगा। हाँ, उसे एक ख़ासी रक़म देनी होगी....ऐसे तो..."

"तो दे ही दीजिए।"

"और जो लोग साथ जायँगे, उन्हें भी कुछ खाने-पीने के लिए—हाँ—ज़रूरी है—यों तो किसी का दिल उठता नहीं—"

"तो ख़ैर, पैसे ही पर उठे!"

चिराग़ जलने के वक्त सुना कि अर्थी गाड़ी पर पिछवाड़े बगीचे में ज्यों-की-त्यों पड़ी है। और वहीं बग़ल में गाड़ीवान और साथ जानेवाले चपरासी वगैरह बाज़ार से कलिया और ठर्रा ख़रीद खाने और पीने के रंग में मौज कर रहे हैं। ढोलक-मजीरा भी साथ है और शायद कुछ रात तक जमकर चकल्लस की पार्टी का भी प्रोग्राम है। जब तक चाँद नहीं

उठता, गाड़ी खोलने की राय नहीं। बड़ा-बूढ़ा मरा है, इसी से खुशियाँ मनाने का तो मौक़ा ही है यह। मैंने कहा कि देवी बाबा क्या मरे कि बिल्ली के भाग से छींका ही टूटा! जीते-जी उनके दर पर कभी ढोल-मजीरे नहीं बजे—आज मरने पर उनकी लाश के साये में यह राग-रंग! इस खुशी में तड़प-तड़पकर वे कफ़न से निकल आए तो!

और रात हो आई। मैं सोने गया। फिर दिन हो आया—मैं काम में लगा। और आँख भी लग ही गई—जी भी लग ही गया।

रात और दिन का यह सिलसिला एकाध दिन उलट-पुलटकर अपने पैमाने पर आ गया—क्या दिवाली—क्या एकादशी।

किसी के होने न होने से कुछ अनहोनी तो होती नहीं। कोई रहे, न रहे—यह दुनिया बराबर वही रहती है। वही ज़मीन, वही आसमान। वही दिन, वही रात। वही हँसना, वही रोना। वही आस, वही प्यास।

वही हम हैं, वही मन; वही तालाब, वही चमन। वही काव्य की चर्चा है, वही रस की योजना। फिर भी यह क्या सब कुछ वही है? आज के इस रस-विलास के वायुमंडल के भीतर किस चीज़ की कमी है, जो उसके निखार में रूह फूँक नहीं पाती—यह रहस्य तो मेरा दिल ही जानता है।

आज भी चाँदनी हँसती है, बादल रिमझिम गाते हैं; आज भी हवा फूलों पर उसी खरामेनाज़ से इठलाती है, रातरानी की लपटें वैसी ही मस्ती बिखेरती हैं। यह सब कुछ है और यह सब कुछ रहेगा। रहेगा नहीं किसी का वह परिचित आवेश-विह्वल स्वर। मिलेगी नहीं चितवन की वह रहस्य-मधुर चाहनी।

हाँ, कभी-कभी आधी रात के सन्नाटे में जब किसी के दर्द में भीगी मीठी आवाज़ दूर से लहराती हुई आकर लगती है दिल में पैठने, तो उस काकली की किलोल के भीतर किसी छुन बोल उठती है वह खोई हुई गले की मीड़। और जब कोई सर हिलाकर, भवें नचा और हाथ फेंक लगता है एक भर्राई आवाज़ में कुछ मीठे पद सुनाने, तो वह अतीत अचानक सिनेमा की रील की तरह आँखों में घूमने लगता है। उसके भाव में डूबी गीली चितवन पर नज़र जाती है तो न जाने क्यों उन बूँदों की सतह पर तैरता दीखने लगता है एक सलोना गोल-मटोल मुँह, जो अपनी हँसी में भी करुण है और अपनी करुणा में भी हँसमुख है।

और जब सोचता हूँ कि 'जातस्य हि ध्रुवोमृत्युध्र् वं जन्म मृतस्य च'—संभव है, अब तक किसी रूप में वे आकाश के तले लौट आए हों—तो चट याद आ जाती है गीता की इसी चर्चा पर उनकी बात—

MUNICIPAL LIBRARY
NAINI TAL.

देवी बाबा

"अरे भाई, इस दुख-भरी दुनिया में फिर लौट आना]गा—तिल-तिल मरने के लिए ! नहीं-नहीं, ऐसा न कहो !"

